कालिदासं नमामि

भगवतशरण उपाध्याय

रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

प्रकाशक
रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
४८७२, चाँदनी चौक, दिल्ली-६
फोन : २२०११७

प्रथम संस्करण, १९६६

मूल्य : रु०. ७.५०

मुद्रक :
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस,
के-१८, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

वक्तव्य

प्रस्तुत संग्रह कालिदास संबंधी मेरे ललित निबंधों का है। सभी निबंध ललित नहीं हैं। कुछ इनमें ऐसे भी हैं जिनमें भावप्रवाह इतना नहीं जितना चिन्तन और खोज है। इनसे पाठकों का विनोद हुआ तो लेखनी को सफल मानूँगा।

भगवतशरण उपाध्याय

दार्जिलिंग,
१. ४. ६६

सूची

कवि के विषय में

संस्कृत के मूर्धन्य कवि और नाटककार कालिदास का स्थान देश-विदेश के साहित्य-मनीषियों ने संसार के अप्रतिम रचनाकारों में माना है। सर विलियम जोन्स ने अठारहवीं सदी के अन्त में जब 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अंग्रेज़ी अनुवाद छापा तब न केवल अनेक यूरोपीय भाषाओं में उसके एक के बाद एक अनुवाद छपे बल्कि पाश्चात्य संसार में इस स्तर के भारतीय कवि के होने की संभावना ने एक अचरज की लहर दौड़ा दी।

पश्चिम के साहित्यकारों पर उस कृति का तत्काल प्रभाव पड़ा और तब के यूरोपीय साहित्य-क्षेत्र के अग्रणी गेटे और शिलर ने उसे प्रभूत सराहा और शाकुन्तल के शिल्प का क्रमशः अपने 'फ़ाउस्ट' और 'वन्दिनी रानी' नाम की रचनाओं में उपयोग किया। गेटे ने तो शाकुन्तल के रागात्मक प्रभाव के वशीभूत हो जो उद्गार निकाला, वह कवियों के लिए दाह का कारण और कालिदास के लिए यश की अमर वाणी बन गया।

निवास—भारतीय कवियों की परम्परा के प्राण होने के कारण कालिदास ने अपने कार्यकाल और निवास के संबंध में संसार को कोई सूचना नहीं दी। परिणामतः दोनों विषयों में

किसी की हमें जानकारी नहीं और विभिन्न अनुमानों के बावजूद हम आज भी उस दिशा में प्रायः शून्य में ही देख रहे हैं। इसका एक परिणाम यह भी हुआ है कि परिस्थिति ने हमारे कवि को देशकालातीत एक अमर पद प्रदान कर दिया है।

कालिदास के ग्रंथों के गहरे अध्ययन से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाल उनके निवास और कार्यकाल के संबंध में जो अटकल लगाए हैं उनसे एक गहन वन ही खड़ा कर दिया है जिससे उस दिशा में भटक सकना भी कठिन हो गया है। फिर भी जो उपलब्ध है उससे तथ्य का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

पहले जन्म-स्थान और निवास—बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, कश्मीर सभी को कालिदास का निवासस्थान होने का समय-समय पर विद्वानों के तर्क से श्रेय मिला है। इन तर्कों की युक्तिसंगत स्थापनाओं में अधिक सच्चाई की संभावना कश्मीर और मध्यप्रदेश के संबंध की है। 'ऋतुसंहार' में जिन षड् ऋतुओं का कवि ने घना परिचय दिया है वे सर्वथा मध्यप्रदेश की हैं। 'मेघदूत' का नायक यक्ष जिस रामगिरि पर प्रवास करता है वह नागपुर के पास का रामटेक है। मेघ को उत्तर अलका की ओर भेजते हुए कवि ने जो रामगिरि से उत्तरोत्तर मार्ग का सविस्तर उल्लेख किया है वह मध्यप्रदेश के छोटे-बड़े सभी स्थानों, छोटी-बड़ी सारी जलधाराओं का कवि का घनिष्ठ ज्ञान प्रकट करता है। वैसे तो निःसन्देह उत्तरापथ के मार्ग पर पड़ने-वाले सभी स्थानों से कवि यथेष्ट परिचित है पर मध्यप्रदेशीय स्थलों के वर्णन में तो वह रागविभोर हो उठता है। प्रसिद्ध है कि उज्जयिनी का उत्तर के मार्ग से हटकर टेढ़ा पड़ना स्वीकार करके भी कवि मेघ को उधर मुड़कर उस नगर के महाकाल तथा वहाँ की नारियों के भ्रू विलास के दर्शन कर अपना भाग्य सफल कर लेने का आग्रह करता है। निश्चय कवि का यह आग्रह मध्य-प्रदेश से उसके घने और दीर्घ संबंध का प्रमाण है।

कश्मीर का भी कालिदास ने प्रकट उल्लेख नहीं किया। पर

ह्रदों-सरोवरों और उनको ढक देनेवाले कमलवनों का जो कवि ने वर्णन किया है उसका संकेत डल, ऊलर आदि कश्मीरी झीलों के प्रति अनेक विद्वानों ने माना है। धान के विविध प्रकारों—शालि, कलमा आदि—का जो कवि ने उल्लेख किया है वे हिमालय में अन्यत्र प्राप्य होकर भी विशेषतः कश्मीर की घाटी के हैं। और एक उल्लेख तो निश्चय जैसे कालिदास को उस घाटी से बाँध देता है। किसी कश्मीरभिन्न संस्कृत कवि ने कभी कश्मीर अथवा उसके उत्तर-पश्चिम बाख़्त्री (बह्लीक, बदख़्शाँ) में होने वाले केसर की पौध और फूल का वर्णन नहीं किया, केवल कालिदास ने आँखदेखा वर्णन किया है। हिमालय के प्रति तो कवि का आग्रह इतना घना है कि 'कुमारसंभव' का समूचा कथानक और 'मेघदूत' का पूरा उत्तरार्ध उसी पर्वत की उपत्यकाओं में घटते हैं, फिर 'रघुवंश', 'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशी' के भी अनेक स्थलों का संबंध हिमालय से है। विशेषकर मेघदूत में विवश प्रवासित यक्ष के उद्‌गार तो केवल कल्पना से संभव हो ही नहीं सकते, निश्चय किसी ऐसे के हैं जो कारणविशेष से लाचार हो स्वेदश से निष्कासित कर दिया गया हो और स्वदेश को भूल न पाता हो।

परिणामतः यह स्वीकार करना अयुक्तियुक्त शायद न हो कि कालिदास ने जन्म कदाचित कश्मीर में लिया और कारणवश वहाँ से हट जाने से उन्होंने मध्यप्रदेश को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। परम्परया उनका विक्रमादित्य की राजसभा का रत्न होना भी उनके उस राजा को दूसरी राजधानी उज्जयिनी में दीर्घकाल तक निवास को प्रमाणित करता है जिसके प्रति कवि का 'मेघदूत' में विशेष आग्रह है।

कार्यकाल—कवि के निवासस्थान की भाँति ही उसका कार्यकाल निश्चित करना भी आसान नहीं, यद्यपि साधारणतः वह काल पाँचवीं सदी ईसवी माना गया है। कवि इतना लोकप्रिय हो गया था कि उसके पीछे अनेक कवियों ने उसका नाम

अपना लिया और इस प्रकार संस्कृत में तीन-तीन कालिदास होने की सम्भावना उत्पन्न कर दी। पर इस सम्बन्ध में प्राय: निर्णय यही है कि प्रसिद्ध कालिदास पहले कालिदास ही थे, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन, जिन्होंने 'रघुवंश' आदि काव्यों और 'शाकुन्तल' आदि नाटकों की रचना की।

यहाँ कालिदास के काल-निर्णय के सम्बन्ध में दो शब्द विशेष लिख देना समीचीन होगा। परम्परा के अनुसार कालिदास ५६ ई० पू० के किसी विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। पर ऐतिहासिक विवेचन से पता चलता है कि न तो प्रथम शती ईसवी पूर्व में कोई विक्रमादित्य ही हुआ और न नवरत्नों में गिनाये जानेवाले क्षपणक आदि व्यक्ति ही परस्पर समकालीन थे। इस सम्बन्ध में विशेषत: बौद्ध भिक्षु अश्वघोष के काव्य 'बुद्ध-चरित' में कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव' के संभावित अवतरणों की ओर संकेत किया गया है। कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया या अश्वघोष ने कालिदास का, इसका निर्णय भी स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में अभी नहीं किया जा सकता, यद्यपि संभावना अश्वघोष के ही कालिदास का पूर्ववर्ती होने की प्रतीत होती है। कालिदास की कृतियों के आन्तरिक प्रमाणों से पाँचवीं सदी ईसवी में ही कवि का होना अधिक युक्तियुक्त लगता है।

गुप्तकाल में संपादित पौराणिक आख्यानों, परम्पराओं और तभी अनंत संख्या में प्रसूत देवमूर्तियों का उल्लेख; भारतीय कला में प्राय: पहली बार कुषाणकाल में निर्मित क्रमश: मकर और कच्छप पर खड़ी चमरधारिणी गंगा तथा यमुना की मूर्तियों का वर्णन; मात्र गुप्तकालीन मूर्तियों की उँगलियों के जालग्रथित (शाकुन्तल, अंक ७—जालग्रथितांगुलि: कर:—देखिए 'मानकुँवर' बुद्धमूर्ति के अतिरिक्त अनेक अन्य, लखनऊ संग्रहालय) अभिप्राय (मोटिफ़) का उल्लेख; कुषाण-गुप्तयुगीन बुद्ध मूर्तियों की अखण्ड समाधि का वर्णन; गुप्त सम्राटों के अभिलेखों और मुद्रालेखों

तथा कालिदास की भाषा में घनी समता; कवि की रचनाओं में वर्णित शांति और समृद्धि; प्रायः तीसरी सदी ईसवी के वात्स्यायन के कामसूत्रों का कवि पर असंदिग्ध प्रभाव; ग्रीक ज्योतिष के 'जामित्र' आदि पारिभाषिक शब्दों का उपयोग; पाँचवीं सदी ईसवी में वक्षुनद (आमू दरिया) की घाटी में बसनेवाले हूणों की रघु द्वारा पराजय—सभी कालिदास की गुप्तकालीनता प्रमाणित करते हैं।

कुमारगुप्त प्रथम के शासन के अन्त में पुष्यमित्रों और हूणों ने गुप्तकालीन शांति नष्ट कर दी। इससे कवि के कार्यकाल का अन्त ४४९ ई० में (४५० ई० के पुष्यमित्रों के साथ हुए स्कन्दगुप्त के युद्ध के पहले) रखा जा सकता है। परन्तु यदि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों की ओर अप्रत्यक्ष रूप से कवि ने संकेत किया है तब संभवतः वह स्कन्दगुप्त के जन्म तक जीवित रहा होगा। कालिदास ने लिखा बहुत है फलतः स्वाभाविक ही उनका कृतित्व दीर्घकालिक रहा होगा। यदि मानें कि वे अस्सी बरस तक जिये तो, इस गणना के आधार पर, उनकी मृत्यु ४४५ ई० के लगभग कभी हुई होगी, और तब उनके जन्म की तिथि ३६५ ई० के लगभग कभी मानना समुचित होगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासनकाल में जन्म लेकर कवि ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समूचे शासन और कुमारगुप्त के शासन के अधिकतर काल तक अपनी लेखनक्रिया जागृत रखी होगी। अतः कालिदास ने स्कन्दगुप्त का जन्म भी देख लिया होगा क्योंकि पुष्यमित्रों की पराजय करते समय स्कन्दगुप्त की आयु कम-से-कम २० वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार यदि कालिदास ने २५ वर्ष की अवस्था में अपना कविकर्म आरम्भ किया हो तो उनकी पहली कृति 'ऋतुसंहार' ३९० ई० के लगभग लिखी गई होगी और उनका रचनाकाल प्रायः उस अवधि के अधिकतर भाग पर फैला रहा होगा जिसे हम साधारणतः भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहते हैं।

कविकार्य—कालिदास की प्रायः सर्वस्वीकृत कृतियां सात हैं। तीन नाटक और चार काव्य। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशी' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक हैं, 'रघुवंश', 'कुमारसंभव', 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' काव्य। कालिदास के एक और काव्य 'कुन्तलेश्वर दौत्य' का भी उल्लेख मिलता है पर उसकी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' संस्कृत नाट्य-साहित्य का चूड़ामणि है। नाट्य-समीक्षकों ने इसे विश्व के साहित्य की सुन्दरतम कृतियों में गिना है। इसके सात अंकों में कवि ने महाभारत की एक कथा का नाटकीय नवनिर्माण किया है। विक्रमोर्वशी त्रोटक है। इसका कथानक ऋग्वेद से लिया गया है। इसके घटनाचक्र का प्रसार पृथ्वी से स्वर्ग तक है और उसका विकासशिल्प असाधारण एवं सुखांत है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटकों की दिशा में कवि की संभवतः पहली रचना है। इसमें कवि से प्रायः ६०० वर्ष पहले के सेनापति सम्राट् पुष्यमित्र शुंग के पुत्र बहु-पत्नीक राजा अग्निमित्र और उसकी प्रेयसी मालविका के प्रणय का नाट्यांकन है।

'रघुवंश' १६ सर्गों का महाकाव्य है, महाकाव्य के परिगणित सारे गुणों से संयुक्त। इसमें कालिदास ने वाल्मीकि रामायण की पद्धति से काव्यरचना की है और रामायण तथा पुराणों के सूर्यवंशी शासकों की क्रियाशीलता को अत्यन्त कुशलता एवं सूक्ष्मता से सर्गबद्ध कर दिया है। महाकाव्य शैली की कृतियों में 'रघुवंश' पहली और आदर्श रचना है। 'कुमारसम्भव' भी महा-काव्य है पर संभवतः कवि उसे पूरा न कर सका। इसी कारण विद्वान् इसके केवल आठ पहले सर्ग प्रामाणिक मानते हैं। यह भी पीछे अनेक सर्ग जोड़कर महाकाव्य की परिगणित सर्ग-संख्या द्वारा पूरा कर दिया गया है, पर वह बहुत पीछे किसी अन्य कवि द्वारा लिखा गया है। स्वयं यशस्वी टीकाकार मल्लिनाथ ने उनकी प्रामाणिकता अस्वीकार कर केवल आठ सर्गों पर ही टीका

लिखी है। 'कुमारसम्भव' का कथानक हिमालय की उपत्यका में प्रारंभ होता है और उमा तथा शिव के विवाह से संबंधित है। काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णनों से भरा है। 'मेघदूत' की पाश्चात्य समीक्षकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। खण्ड-प्रबन्ध के रूप में संसार का यह पहला गीतिकाव्य—लिरिक—है। वैसे तो साफ़ो आदि प्रसिद्ध नव ग्रीक लिरिक कवियों ने कालिदास से प्रायः हज़ार साल पहले लिरिक लिखना आरंभ कर दिया था पर प्रबंध-लिरिक के रूप में कोई स्वतंत्र काव्य कालिदास से पहले किसी देश में नहीं लिखा गया। अनेक यूरोपीय भाषाओं में 'मेघदूत' का अनुवाद हो चुका है। इसमें मंदाक्रांता नाम के एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है और इसके श्लोकों की संख्या केवल १२० है। स्वयं संस्कृत साहित्य में इस काव्य का बार-बार अनुकरण हुआ है। इसी की छाया में प्रसिद्ध जर्मन लिरिक कवि शिलर ने स्काटों की रानी का 'वन्दिनी रानी' शीर्षक से चरित लिखा जिसमें उसने उसकी ओर से उसके स्वदेश स्काटलैंड को बादलों से संदेश भेजा। 'ऋतुसंहार' कालिदास की प्रत्यक्षतः प्राथमिक कृति है। यह भारत की छहों ऋतुओं का क्रमिक वर्णन करता है, मस्त और जीवन्त। ऋतुओं के प्राणवान् चित्र एक के बाद एक काव्यपथ पर उतरते चले जाते हैं और निसर्ग जैसे ऋतु-ऋतु उघड़ता चला जाता है। काव्य का प्रमुख विषय प्रकृति ही है, पर सारी ऋतुओं का एकत्र इतना मांसल रूपायन स्वयं कवि ने अन्यत्र नहीं किया, अन्य कवियों की कृतियों में तो उसका अभाव है ही। कवि की इन रचनाओं में भारत के सामुदायिक और वैयक्तिक जीवन की अनन्त राशि खुल पड़ी है।

कृतियों की उत्तरोत्तर प्रौढ़ता के विचार से उनका संभावित क्रम इस प्रकार है: ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, मेघदूत, कुमारसंभव, रघुवंश और अभिज्ञान शाकुन्तल।

शैली—कालिदास की अन्य संस्कृत कवियों से विशिष्टता उनकी सहज शैली तथा प्रसाद गुण में है। भाषा के ऊपर किसी

संस्कृत कवि का इतना अधिकार नहीं। कवि की सारी रचनाएँ उस वैदर्भी शैली में सम्पन्न हुई हैं जिसकी दण्डी ने अपने 'काव्या-दर्श' में स्तुति की है। कालिदास की उपमाएँ अपनी सूक्ष्मता और औचित्य के कारण जगत्प्रसिद्ध हैं। उनकी कल्पना अनन्य साधारण और अद्‌भुत गतिमती है। मानव हृदय के ज्ञान की सूक्ष्मता में यह कवि सर्वथा अनुपम है, सुकुमार निरूपण और भावों तथा आवेगों के वर्णन में अद्वितीय।

अपने नाटकों में कवि ने संस्कृत की परम्परा के अनुकूल ही संस्कृत और प्राकृतों का उपयोग किया है। गद्य के लिए वह शौरसेनी का उपयोग करता है, पद्य के लिए महाराष्ट्री का। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में 'नागरिक' और 'धीवर' मागधी बोलते हैं, पर श्याला शौरसेनी बोलता है।

कवि ने अपनी रचनाओं में अत्यन्त कुशलता से निम्नलिखित छन्दों का उपयोग किया है : आर्या, श्लोक, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, प्रहर्षिणी, शालिनी, रुचिरा, स्रग्धरा, रथोद्धता, मंजुभाषिणी, अपरवक्त्रा, औपच्छंदसिका, वैतालिक, द्रुतविलंबित, पुष्पाग्रिता, पृथ्वी, मंदाक्रांता, मालिनी, वंशस्थ, शिखरिणी, हारिणी, इंद्रवज्रा, मत्तमयूर, स्वाती, त्रोटक और महामालिका।

१

कवि का बिम्ब

श्वेताभ कनक वरन काया। ऊँचा माथा। सुती सीधी पतली नाक। वृत्ताकार चिकने कपोल भरे फूले, जहाँ-तहाँ सुनहरे रोयें। गहरे नीले नयन। घुंघराले पिंगल घन कुन्तलों के कटे काकपक्ष। घुटनों के ऊपर सकच्छ धोती, ऊपर का गात विवसित। कानों में वलय, कलाइयों में कंकरण—वाल कालिदास।

× × ×

अष्टाध्यायी रटते-रटते नयन आक्षितिज फैली स्फुटपुष्प-हासिनी उपत्यका की छोरों तक निर्बन्ध दौड़ जाते हैं। पाठ वंद कर वह तितलियों के पीछे सहसा दौड़ पड़ता है। फूलों को देखता चुप बैठ जाता है। उनके रंग, उनकी पंखुड़ियाँ, उन पर भौंरों की चोट—गुनने लगता है—क्या इनके डंक पंखुड़ियों को चुभ नहीं जाते ?

पाठ करने लगता है। हारिलों की आवाज़ सुन नेत्र अनायास ऊपर उठ जाते हैं। हारिल पाँत बाँधे उड़े जा रहे हैं। पाठ विसर जाता है। आँखें सरोवर की ओर भटक जाती हैं—हंसों के जोड़ों की ओर जो एक कमलपत्र की छाया से दूसरे की छाया की ओर सरक जाते हैं। कमलदण्ड के डोलने से जल की

लहरियाँ हल्की नाच पड़ती हैं। वह हँसता है। गुनगुना पड़ता है।

बिसरे पाठ की याद आती है—वेद की ऋचा गा उठता है। ऋचा-पर-ऋचा स्मृतिपटल पर चढ़ती, काँपती ध्वनि की राह उतरती चली जाती है। सब कुछ कण्ठ है, याद है—उपाध्याय भर्त्सना नहीं करेंगे। अष्टाध्यायी के सूत्र भी कण्ठ हैं, कात्यायन के वार्तिक भी। कठोर हैं यह कात्यायन, कोमल हैं भाष्यकार पतंजलि, पाणिनि की ही भाँति। बटु कालिदास।

× × ×

मसें भींग चली हैं। कंचन तप चला है। कपोलों का वृत्त अंडाकार हो चला है। नाक उठ आयी है। नयन तीखे हो चले हैं। चिबुक नुकीला हो गया है। काकपक्ष कुन्तलों में खोये, पिंगल केश स्नेह के उपयोग से श्यामायित हो गये हैं। किशोर वय है अब उसका।

व्याकरण, निरुक्त, वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, धर्मशास्त्र, पुराण।

बैठा है छितवन की छाँव। कहता है—सन्ध्या कितनी स्निग्ध है, दिशा कितनी कोमल! प्रतीची की यह कंचन गरिमा प्राची की उषाकालीन अरुणायित आभा से कितनी भिन्न है! पर यह दिवस का आरंभ करती है, वह अन्त करती है। अच्छा वह मृग है, कृष्ण सार, यह मृगी! मृग के सींग होती है मृगी के नहीं। जैसे मयूर के पुच्छमण्डल होता है, मयूरी के नहीं। और यह छितवन की छाँव अब रम्य नहीं। इसकी पत्तियों से अब शीत टपकने लगी। सप्तपर्ण का आतपत्र दिन के आतप के लिए है, साँझ की शीत के लिए नहीं।

× × ×

दर्शन, काव्य, छन्द, नाट्यशास्त्र, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, आन्वीक्षिकी, कलाएँ, कामसूत्र, अनन्त ज्ञान जिह्वाग्र पर।

नाक-नक्श और तीखे हो गये हैं। मुखमण्डल अंडाकार,

स्मित हास से सदा प्रफुल्ल। कनक वरन और तप गया है, काया पुरुषोचित हो गयी है, कामिनी के लिए असह्य। पिंगल कुन्तल और भी स्निग्ध श्यामायित हो कन्धों को चूम रहे हैं। होंठ ताम्बूल से लाल रचे हैं।

वक्ष पर पुष्पमाला डोल रही है। वक्ष का कुछ भाग स्वर्ण-खचित अंचलवाले पीत उत्तरीय से ढका है। चुनी धोती का कोण चरणों के बीच श्वेत लटक रहा है। कानों के कुण्डल मकराकृत हैं, पंचशर के प्रतीक। नीलमखचित हिरण्य वलय कलाइयों पर गठे हैं, तप्त कंचन के दमकते अंगद भुजाओं पर कसे हैं, अनामिका मुद्रिकायुक्त है, नख रक्ताभ श्वेत हैं। तरुण कवि है वह।

छन्द गाता है, अपने ही रचे। तब जैसे उसकी कम्पित गिरा सुनने को वायु ठमक जाती है। मदिरा के अभ्यस्त सेवन से पलकें कुछ बोझिल हैं, नयनों के डोरे कुछ लाल रँग चले हैं। प्रेम रोम-रोम में रिस चला है।

जब गाता है, सुनने को दिशाएँ सिमट आती हैं। युवा-युवतियों की भीड़ लग जाती है। विनीत है, पर कंटकित हो उठता है, रोमांच उत्पन्न करता है। रहस्य का भार लिये मानिनियाँ रूठ चलती हैं, शिथिल। काम उन्हें डस चुका है। उसे भी।

ऋतुओं का रहस्य पा लिया है तरुण ने। निदाघ उसे जब डाहता है तब वह प्रासाद के चाँदनीछाये पृष्ठतल पर सुवासित वातावरण में ताम्बूल और पुष्पमाला लिये प्रमदाओं के साथ मधुपान के अर्थ लालायित हो उठता है। पावस में प्रोषितपतिकाओं का मेघदर्शन उनके लिए ही उसका मानस मथ देता है। शरद काम्य है, अनेकानेक कोमल उपकरणों से सेव्य, निरभ्र आकाश, निर्मल जल-प्रवाह, डहकती चाँदनी, चहकता चाँद।

हेमन्त और शिशिर कमलों को झुलस देते हैं, फिर भी काम्य हैं, मनहर। ताम्बूल हो, मधु हो, मदनमथिता सहजसेव्या कामिनी हो, प्रासाद का कक्षान्तर हो तो उसका तन्त्रीनाद निःसन्देह

मुखर हो उठे, अन्तर चंचल विलोचन लोल।

पर तारुण्य उसका वास्तव में वसन्त में पकता है। जब कुसुम निचय से हरितांबरा धरा लचक पड़ती है। जब रक्ताशोक अपने कुसुमों के अंगार से वनस्थली में आग लगा देता है। जब कमल साँझ को सम्पुट होता होता छिन भर मुँह खोल रखता है कि कहीं भटक रहा अनुनयी भौंरा अन्तर की राह पाले, कोठ का परचा कहीं बुरा न मान बैठे। जब पुंस्कोकिल बौराये आम की मंजरी के मधु से बुत्त हो कषायकण्ठ से टेर प्रिया को चूम लेता है—मदन का आदेश है वह टेर, मानिनियों के प्रति—मान तज दो, जीवन का यह क्षण फिर लौटने का नहीं। भोगो इसे, वंशी की गाँठ-गाँठ, रन्ध्र-रन्ध्र, तन्त्री के तार तार, वारुणी की बूँद बूँद !

और उदारमना वह कवि प्रिया का प्रसाधन करता है—चिबुक से कानों तक कपोलों पर खिची टहनियाँ में लिखे पत्र रंग-रंग झूम पड़ते हैं, विशेषक रोम-रोम को परसकर जगा देता है, भाल की भक्ति के श्वेत विन्दुओं के वृत्तायित केन्द्र में कुंकुम की अरुनाई किरन-सी चमक उठती है। चन्दन की श्वेत रेखाएँ वक्ष के गोलार्धों को कंटकित करतीं नाभि में उतर जाती हैं, जघनों को कोर देती हैं। सीमन्त की कुड्मल रेखाएँ धूप के धुँए से बसे अलकजाल के मोतियों पर विहँस पड़ती है। और आकर्ण फैले नेत्रों के श्याम उपान्त मधु के मद से बोझिल पलकों के कारण सहज जब झुक पड़ते हैं तभी जान पाते हैं कि दर्पण में प्रतिबिंबित लाक्षारंजित लोध्रचर्चित अधर पदों की आलता रची रेखाओं पर हँस नहीं पायेंगे, कारण कि राजा उन्हें चूम चुका है।

कुछ हो गया उसे। यक्षों की नगरी में उन्माद जागा। अनधिकारी उत्तरीय ने आतुर आँचल को समेट लिया। संयम का पाहरू सोया, असंयम का दैत्य जागा। मृणालतन्तुओं से रोका मनोवेग सीमाओं को बहा ले चला। कंचुक के कायबन्ध टूट गये।

स्वामी का अभिशाप फला—देश छूटा, नगरी छूटी, क्षौम-तरुओं के मधुभरे बिल्लौरी चषकों के दौर छूटे, मदिर अभिसार छूटे, प्रमदवन प्रासाद छूटे, स्वकीया प्रिया छूटी, पर[illegible] वाणिनी। कवि अभिशप्त, रामगिरिवासी यक्ष, झुलसी शिलाओं पर मेघ की छाया देख डोला, फिर बोला—

> संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियाया :
> संदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
> गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
> बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥

संतप्तों के झुलसे हियों के, हे मेघ, तुम शरण हो—इसीसे माँगता हूँ। याचना ठुकराओ नहीं—कुबेर के क्रोध से प्रिया से बिछुड़े मुझ विरही का संदेश उस तक पहुँचाओ। जाना तुम्हें यक्षेश्वरों की नगरी उस अलका को होगा जिसके धवल प्रासाद निकटवर्ती उद्यान में बसे शिव के सिर की चन्द्रिका से चमकते रहते हैं।

वाणी फूट बही, निर्बाध। 'मेघदूत' की अप्रतिम गीतिका अनायास रच गयी। मध्यप्रदेश की ऋतुओं का संहार कब का रूपायित हो चुका था। दक्षिण दिशा ने पुकारा, विदिशा की मालविका मंच पर उतरी। उज्जयिनी की मालिनें कवि की आँखों चढ़ीं, विशाला की अंगनाओं का कुटिल भ्रूभंग मर्म में चुभ गया। महाकाल की समाधि टूटी—नमेरु की डाली से चक्राकृत धनु तान काम ने कषाय को बेध दिया, गजचर्म क्षत-विक्षत हो गया। तनुता खोकर भी अनंग ने जो उन्माद बोया शिव ने उसे गन्धमादन पर मारे-मारे फिर पौध-पौध, पोर-पोर काटा। 'कुमार-सम्भव' हुआ।

आयु पक चली थी, केशावलि श्याम श्वेत। प्रौढ़ की मनेन्द्रिय डहक-डहक बलती है, अनस्फुट कलिका के प्रति विशेष स्फुरित होती है—जैसे अग्निमित्र की, मालविका के प्रति, शिव की, उमा के प्रति, पुरूरवा की, किशोरी उर्वशी के प्रति, दुष्यन्त की

शकुन्तला के प्रति।

यौवन पक कर निस्पन्द हो चला था। संयम का, युक्ताहार विहार का, अंकुर फूटा, वढ़ा, अश्वत्थ हुआ। 'रघुवंश' का क्षेमाशय परिवार का नियामक बना, आचारप्रमादिनी शकुन्तला अभिशप्त हुई, धूसरित वसन धारे व्रतिनी शकुन्तला क्षेमकारिणी 'अभिज्ञात' हुई। कवि ने जीवन का भेद पा लिया था—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः—

काया का विनाश उसके परमाणुओं का आधार को लौट जाना है, प्रकृत है, स्वाभाविक। जीवन विकार है, परमाणुओं का मूलाधार से हट जाना। पर कवि ने—जिसने अब कुंडल और वलय तज दिये थे, श्वेत कुन्तलों मात्र का वह धनी था—गाया फिर भी, केवल राग अब उसका भिन्न था—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।

●

२

उत्तरमेघ की अलका

●

उत्तरमेघ की अलका हिमालय के तुषारावृत शिखरों की छाया में बसी थी। उस मानसरोवर के पास ही जिसके निर्मल कैलासप्रतिबिंबित मीठे जल में हेमकमल खिलते हैं, जहाँ हंसों के जोड़े निस्पन्द बहते-से एक पद्मपत्र की छाया से निकल दूसरी का आश्रय करते हैं।

वहीं, उस मानस के तीर शिव का दिन-दिन का राशीभूत अट्टहास कैलास है। स्फटिकवत् स्वच्छ, जिसके दर्पण में देव-ललनाएँ अपना मुँह देख मंडन करती हैं। उस गिरिवर की सन्धियों को कभी रावण ने झकझोर कर ढीला कर दिया था। उसके श्वेत शिखरों के दल आकाश में दूर तक फैले हुए हैं, कुमुद की पंखुड़ियों की तरह।

उसी कैलास की ढलान पर अलका बसी है, प्रणयी की गोद में बैठी प्रणयिनी-सी। और उसकी ढलान से गंगा की श्वेत धारा जो उतरती दीखती है, लगता है जैसे विलासगत प्रिया की साड़ी नीचे सरकती चली गई हो। अलका के ऊँचे भवनों पर वर्षा ऋतु में जब रिमझिम बरसते धुआँ-से मेघ जा बैठते हैं तब वे ऐसे लगते हैं जैसे कामिनियों के मस्तक पर मोतियों के जाल

से सवाँरी अलकें—

> तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
> न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
> या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
> मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥

यक्षों की उस नगरी का चाहे आज कोई स्थूल अवशेष न हो पर कवि की कल्पना आज भी उसके हज़ार-हज़ार आकर्षण हमारे नयन-पथ में फेंकती चली जा रही है ।

आसवपायी कुबेर की नगरी थी वह, उन यक्षों के स्वामी की जिनका वैभव उनके विलास में था, उनकी सुरुचि में, उनके प्रणय-संभार में । कुषाणों और गुप्तों की वेदिका-स्तम्भों की अभिराम यक्षिणियाँ वहाँ जीवित फिरती थीं, अभिनव प्रणय के स्रोत खोले, नित्य उमंगती साधों के झंझावात उठातीं । धूमायित मेघों के ऊपर उनके मणिमय भवनों के तुंग शिखर गगन को चूमते थे और उन भवनों की दीवारों पर इन्द्रधनु की छाया में पुष्पसायक राग-रेखाओं में सोता था । उन दीवारों के चित्रगत गजराज हथिनियों के यूथों के साथ कमलों के वन से ढके सरोवर में जिन मानवीय मनोरथों को सत्य करता था उनका गुमान स्वयं मानव भी न कर पाता । अलका के उन्हीं भवनों में यक्षों की ललित वनिताएँ तंत्री के छेड़े रागों के बीच प्रहत्त पुष्कर के पसरते स्निग्ध गंभीर नाद से तरंगायित वातावरण में विचरती थीं ।

उनके पार्थिव प्रसाधन ने गंगातटवर्ती मध्यदेश की नागरिकाओं को मंडन की दिशा दी थी । अलका की वे ललित वनिताएँ हाथ में लीलाकमल धारण करतीं, कुंचित अलकों को जूही के टटके फूलों से सजातीं, चूड़ापाश से नये कुरवक के गुच्छ लटकातीं, कानों में सिरस के सुन्दर फूल पहनतीं और सीमंत की रेखा कदंब के छोटे फूलों की लड़ी से ढक लेतीं । उनके भरे प्रकृत रक्ताभ होठों को आलक्तक जब गहरा लाल रँग देता तब वे

उन पर लोध की रज डाल उन्हें पीताभ कर लेती, और कपोलों के चित्रलेख आनन की छवि को नितांत कमनीय बना देते—

अलका के उसी पड़ोस में कहीं कन्नौर था, किन्नरों का देश, उन उत्सवसंकेतों की परिधि के भीतर ही जिनके संकेतस्थल उनके कामोत्सवों से गूंजते रहते, जिनकी अनेकानेक विलास-प्रथाएँ आज भी वहाँ के पड़ोसियों के चरित्र को स्निग्ध और सरलभोग्य बनाए हुए हैं। वहीं अपनी अलका के स्फटिक भवनों की मणिमयी भूमि में प्रतिबिंबित तारों की छाया में, उनकी पसरती ज्योति के प्रकाश में, यक्ष कल्पवृक्षों के कुसुमों से खिंचे आसव का सेवन करते। उनके आपानकों का मदिर वैभव मानवों ने भला कहाँ जाना! .

उसी अलका में मंदाकिनी की एक धारा बहती है जहाँ अरमप्रार्थिता कन्याएँ खेलती हैं। उन किशोरियों की छवि का जादू अमरों को उतना ही विवश कर देता है जितना उनके खेलों का आडंबरशून्य आकर्षण। भगवान भास्कर का तेज मंदाकिनी की नीहारिकाओं से सिक्त वायु सह्य कर देती है और तट के मन्दार वृक्षों की छाया में छनी धूप का विस्तार खेलती यक्ष-कन्याओं के अंगों को स्पर्शसुखद लगता है। बहती धारा के दोनों ओर सोने की रेत फैली हुई है। उसी रेत में यक्ष-कन्याएँ अपने लुक्का-चोरी के खेल खेलती हैं—सुनहरी रेत के नीचे मणियों को जब वे चुरा देती हैं तब साथ खेलनेवाले अमरों और यक्ष-कुमारों को उन्हें ढूँढ निकालना कठिन हो जाता है। अलका की उस स्वर्णधूलि के वातावरण में बाल किशोर होता है, किशोर तरुण, और तब कमनीय काया की संधियों पर मदन अपनी गाँठें लगा देता है जिनको मणिमय प्रदीपों के प्रकाश में रसिक यक्ष खोलते हैं, लाज से सकुचाती स्वप्निल अर्द्धनिमीलित आँखोंवाली यक्षिणियाँ जिन्हें अपने हाथों से मंडनचूर्ण फेंक बुझाने के असफल प्रयत्न से थककर विरत हो जाती हैं। तब यक्ष जागरूक हो उठते हैं और धर्मराज वरुण के चर अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं।

और जैसे विलास-कक्ष के अंतरंग में यक्ष और यक्षिणियों के प्रणयगत दाँवपेंच चलते हैं वैसे ही अलका के भवनों और मेघों के बीच भी लुक्का-छिपी चलती है। भवनों के वातायनों से चोर की तरह कमरों में प्रवेश कर मेघ दीवारों और फ़र्श के चित्रों को गीला कर देते हैं, फिर निचुड़ कर डरे हुए से जार का आचरण करते सिकुड़ते हुए उन्हीं वातायनों से भाग जाते हैं।

अलका के भवनों के उन कमरों के भीतर पर्यंकों के ऊपर जो चँदोवा तना रहता है उसकी छटा को सम्राटों के श्रीवितान क्या जानें ? उनसे डोरियों के सहारे लटकती अनंत चंद्रकान्त मणियाँ जब गवाक्षों से पैठतीं चंद्रकिरणों के स्पर्श से द्रवित हो रिसने लगती हैं तब यक्ष दम्पतियों की सुरत की ग्लानि मिट जाती है।

भवनों के भीतरी वैभव का अनंत विस्तार लेखनी में शक्ति कहाँ जो लिख सके ? धनपति कुबेर के अनुचर यक्षों के अक्षय धन की प्रतीति स्वाभाविक ही है पर मन को भूख स्थूल की निःसीम परिधि से कब मिटी है ? कब उसके दायरे में बँध पायी है ? मनोरथों की सीमा कहाँ है ? अगति कहाँ है ? सो अलका के भवनों की दीवारों में जब मन की साधें न समा सकीं तब कामुकों ने उनका विस्तार भवनों के बाहर किया, उस अमर नगरी के बहिरुपवनों में।

दाम्पत्य की एकाग्रता विलास का अभिशाप है। वह उसके विस्तार को बाँधना चाहता है और विलास उसकी परिधि में घुटा-घुटा-सा पलता है। यक्षों की परिणीत प्रियाओं का सुख लज्जावेष्टित होता है, विलास के कोमल आतुर क्षणों में प्रकाश की ज्योति पर उसे अंधा करने के लिए मण्डन के चूर्ण फेंकता है, विलास की प्रकट अजस्र विधियों को औचित्य की निर्मम तहों से ढक लेता है। पर वारांगनाओं का आचरण दाम्पत्य की सीमाओं से बाहर विलास के अनंत-अनंत पट खोलता जाता है, लाज की घुटन उसमें नहीं होती; छाया का आवरण उसे सीमित नहीं

करता, नेत्रों का पारस्परिक उन्मेलन विलास को उद्दीप्त करता है। अलका के यक्ष परिणामतः दाम्पत्य से परिमित गार्हस्थ्य की दीवारों से, उसके भवनों से, निकलकर दूर बाहर चले जाते हैं, उन कल्पवृक्षों की ओर जिन्हें कुछ भी अदेय नहीं और जिनकी छाया में प्रणय का स्वादुफल अविराम चखा जा सकता है, जहाँ के प्रसूनों के मधु की कोई सीमित मर्यादा नहीं, अनंत मात्रा में जो ढाली जा सकती है।

उन उद्यानों की राह यक्षों को बड़ी प्यारी होती है और उस राह न केवल यक्ष जाते हैं बल्कि वे यक्षिणियाँ भी जाती हैं जिनको गार्हस्थ्य की सीमाएँ मान्य नहीं और जो भवनकेंद्रित अपने कुंठित विलास की गाँठें बाहर खोल उनकी संचित पराग गंधवाही वायु के डैनों को सौंप देती हैं। निःसंदेह काम के प्रमदवन की राहें अलका के यक्ष भी चलते हैं यक्षिणियाँ भी।

अभिसारिकाओं की नितांत प्रिय ये रात की राहें निश्चय दिन में उनसे शत्रवत् व्यवहार करती हैं, उनके भेदियों का-सा। जब वे अपने संकेतस्थानों से मर्दित थकित अपने घरों की ओर तेज़ी से लौटती हैं तब वे नहीं जानतीं कि उनके ढीले कुंतलों से कब फूल झड़कर नीचे गिर पड़े। कानों के सुनहरे कमल, टूटे हारों के बिखरे मोती पग-पग पर प्रातः उन देखनेवालों की आँखों में चमक उठते हैं जो अपनी मर्यादाओं और सीमाओं को नहीं लाँघ पाते, केवल संकेत के अस्पष्ट उद्दीपन से ही अपनी स्वादु-कल्पना के पट बुनते हैं।

पड़ोस का भय बड़ा होता है। अलका के विलासों को गति देनेवाले मदन को भी एक भय है। वह भय है शिव। शिव धन-राज कुबेर के सखा हैं, पड़ोस के सहवासी भी। और मदन ने एक बार जो उन योगिराज पर अपना संमोहन नामक बाण छोड़ा था उसके परिणामस्वरूप रुद्र ने उसे जला डाला था और उसकी संज्ञा 'अनंग' हुई थी। मदन अपना वह संहार भूला नहीं है, बरा-बर शिव से डरा रहता है। इसीसे अलका में वह पुष्पधन्वा अधिकतर

स्वयं अपने धनुष की प्रत्यंचा नहीं चढ़ाता । एक बार जो उसने भौंरों की कतार से बनी अपनी वह डोरी खींची थी, धनुष को चक्रीकृत किया था, वह उसे फला नहीं था, तो उसकी सुधि वह कभी भूलता नहीं और फलतः वह धनुष अब-तब ही चढ़ाता है । वह कार्य उसने अलका की सुन्दरियों को सौंप दिया है, अपना वह धनुष उसने उनकी भौंहों की छाया में छिपा दिया है और अपने कमान का जादू अलका की यक्षिणियों के भ्रू-विलास को दे वह सर्वथा निश्चिन्त हो गया है । परिणामतः वहाँ की चतुर वनिताओं के भ्रू-विलास द्वारा वह सब कुछ सम्पन्न हो जाता है जिसकी कामदेव अपने कमजोर धनुष और सद्यः उड़ जानेवाले भौंरों की डोरी से कर गुजरने की कल्पना भी नहीं कर सकता था ।

उस अलका के दर्शनीय तरुओं में एक तरु है कल्पतरु जो नारियों के मंडन सम्बन्धी सारे प्रयासों को व्यर्थ कर देता है, जिसकी निकटता और अनंत देयता के कारण उन मंडनों के लिए प्रयास की अलका की नारियों को आवश्यकता ही नहीं रह जाती । मंडन के उपकरण चार होते हैं—सुन्दर वसन, मदिर मधु, परागवर्षी प्रसून और रागरंजक आलक्तक । नरम स्पर्श-सुखद चित्रित-रंजित वस्त्रों की परख जितना पहननेवाले के लिए काम्य है उतना ही देखनेवालों के लिए उनका दर्शन आकर्षक और अभिराम होता है । विलास का आधार नारी है और नारी के नारीत्व का आकर्षण उसकी भ्रूलताओं में केन्द्रित है और भ्रू-लताओं को सिंचन करनेवाला रस उन्हें मधु से मिलता है, आसव से, जिसके आसेवन से नेत्रों के कोये राज जाते हैं, उनके डोरे लाल हो जाते हैं, उनकी पलकें शिथिल अर्धबोझिल और भवें कमानवत् चढ़कर तन जाती हैं । मंडन का आवश्यक उपकरण कुसुम है । नारी उसे कानों में धारण करती है, वेणियों में, चूड़ापाश में, अलकजाल में पहनती है और लीलारविन्द की विजय-वैजयन्ती वह कर में फहराती है । पर मंडन के ये तीनों उपकरण दर्शन में फीके लगते हैं यदि विलासिनी के खुले अंगों का प्रसाधन

आलक्तक की रक्तिम रेखाओं ने न किया। आलते की राग-रेखाएं अब कपोलों की श्वेत भूमि पर 'विशेषक' के और भाल पर 'भक्ति' के रूप में उभर आती हैं। जब उनसे हाथ की हथेलियाँ और पग के तलवे रँगकर चमक उठते हैं और उनके किनारे सौन्दर्य को जैसे परिधि में बाँध गतिमान करने लगते हैं तब मंडन की छवि के चार चाँद लगते हैं। और इन सारे उपकरणों का एकमात्र प्रसवक वह कल्पतरु है जिसका निःसंदेह अलका के यक्षों को, उनकी यक्षिणियों को, बड़ा मोह है, बड़ा गर्व है।

उसी कल्पतरु के पड़ोस में धनपति कुबेर के महलों के पास ही कहीं मेघदूत के विरही यक्ष का प्रासाद था, उसकी एक पत्नी यक्षिणी का अभिराम आवास, जिससे बिछुड़कर अभिशप्त यक्ष मध्यप्रदेश के महाकान्तार के पार रामटेक की उपत्यका में रहने लगा था।

३

विरहिणी का आवास

●

कैलास की उतरती ढाल पर विराजमान अलका है जिसकी गंगारूपिणी श्वेत साड़ी नीचे सरकती चली आई है। उसी अलका में उसका प्रभु और यक्षों का स्वामी धनपति कुबेर का राजप्रासाद है और उस प्रासाद से थोड़ी ही दूर पर उत्तर की ओर अभिशप्त यक्ष का भवन है।

फैले प्रमदवन के बीच विरही यक्ष का वह आवास खड़ा है जो अपने इन्द्रधनुष के सदृश बने तोरण से दूर से ही पहचाना जा सकता है, जिस तोरण के दोनों ओर शंख और पद्म निर्मित हैं। प्रासाद के द्वार पर ही वह कल्पतरु सरीखा बालमन्दार का वृक्ष है जिसे यक्ष की कान्ता ने पौधकाल से ही पुत्रवत् गान वक्षवर्ती घट से सींच-सींच बड़ा किया था। वह मन्दार अब बालमन्दार भी न रहा, बढ़कर कुसुमाकर बन गया है, उसकी शाखाओं से फूल के गुच्छे झूम पड़े हैं और उसके स्तवक डाली झुकाकर हाथ से तोड़े जा सकते हैं, हाथ की पहुँच के भीतर हैं—

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥

प्रासाद के उस प्रमदवन में बावली है, क्रीड़ाशैल है, केलों के वृक्ष हैं, अशोक के अभिनव तरु हैं। प्रासादवर्ती वह वापी (बावड़ी) निर्मल जल से भरी है, उसकी सीढ़ियाँ जल तक निरंतर उतरती चली गई हैं। और उस सोपान मार्ग की सुघराई के क्या कहने—यक्ष की सुरुचि जैसे उनकी वास्तु में उमड़ पड़ी है—मरकत की पट्टिकाएँ उनमें जड़ी हैं और नीलम की वह राह जब पन्ने की ज्योतिवाले कमलनालों से जा मिलती है तब स्वर्ण-कमलों की पीताभ छाया के संयोग से वहाँ रंगों का अद्‌भुत संगम बन जाता है। ऐसी अलौकिक वापी में निःसन्देह कमल भी साधारण नहीं खिलते, स्वर्ण-कमल होते हैं वे, जो अपनी वैदूर्य की नाल पर डोलते रहते हैं और उसके जल पर जो राज-हंस विचरते हैं उनका स्नेह उस वापी से इतना घना है, उसके स्वर्ण-कमलों से, उनकी वैदूर्य की नालों से, उन पर अपनी जगमग आभा डालती सीढ़ियों के नीलम की छटा से, कि वे बस वहीं रम रहते हैं, और वर्षागम में भी, जब सर्वत्र के हंस अपना जलावास छोड़ मानसरोवर की ओर उड़ चलते हैं तब भी, वे राजहंस वहीं बने रहते हैं, उसी वापी के जल-विस्तार पर, उसकी नन्हीं लहरियों से टकराते, चहकते, कमल-पत्रों की छात्रा में बसेरा लेते।

और उस वापी के तीर इन्द्रनील मणियों के शिखरवाला एक क्रीड़ाशैल है, प्रकृत शैलों से सर्वथा भिन्न, रसिक वास्तुविद् मानस के हाथ का बना, फ़ुरसत के दिनों में प्रणयी-युगल द्वारा जहाँ-तहाँ सँवारा। हिमालय की अनन्त शिलाराशि में शृङ्खलाओं के अटूट सिलसिले हैं, उनके अनन्त अभिराम वनावृत खंड हैं। पर इस हाथ से बनाए कृत्रिम क्रीड़ाशैल की छटा निराली है, पाले मृगों की चौकड़ियों से उसका पत्थर-पत्थर पुलकित है, उनकी नाभि से शिला-शिला सुरभित। और उस क्रीड़ाशैल की वेष्टनी कनक-कदली से खिंची हुई है, देखने ही योग्य है। वापी के तीर नीलमजड़े क्रीड़ाशैल का वह अभिराम विस्तार और उसके चारों

और दौड़ती सुनहरे केलों की बाड़ निश्चय मनहर है, मनहर कि दूर का यक्ष उस क्रीड़ाशैल की स्वामिनी अपनी गेहिनी की सुधि तक अनायास कर बैठता है जिसके हाथों कनक-कदली की वह बाड़ अंकुरित होकर बढ़ी थी। क्यों न आए नीलाभ श्याम शिखर-मंडित क्रीड़ाशैलवर्ती उस गेहिनी की याद जब वैसा ही नीलाभ मेघ अपनी दामिनी के साथ रामगिरि में गगन पर घिर आए? और तब स्फुरित चपलावाले श्यामघन को देख कामार्तचित्त यक्ष की वाणी क्यों न फूट पड़े? क्यों न वह कामार्त यक्ष चेतन-अचेतन के भेद-भाव भूला प्रकृतिकृपण बन उसे प्रिया के प्रति अभिनव संदेश भेजने के उपक्रम करने लगे? उस क्रीड़ाशैल पर कुरबक वृक्षों से घिरा माधवीमंडप है और उस माधवीमंडप के महमह लतागृह के पास ही लाल अशोक और बकुल के तरु हैं। रक्ताशोक और बकुल दोनों दिव्य वृक्ष हैं, अपनी ही अलौकिक छटा से मंडित। पर उन्हें भी यक्ष की गेहिनी की कृपा की अपेक्षा सदा रहती आई है। उनका दोहद उसीने समय आने पर सम्पन्न किया है। कुसुमी उत्फुल्ल अशोक उसके वामपद के स्पर्श का अनुरागी है, उत्कंठित कृतज्ञ बकुल उसके आननासित मद्य के कुल्ले का अभिलाषी उसके बाएँ पैर की परस जब मिले तब कहीं वह अशोक आशीर्ष फूलों से लदे, उसकी वदन-मदिरा का स्वाद जब बकुल पाए तब कहीं वह अपने कुसुमों के कुड्मल फेंके।

उन्हीं दोनों तरुओं के बीच वामपादाभिलाषी अशोक और वदनमदिरोत्सुक बकुल के बीच एक वासयष्टि है। कांचनी है वह, सोने की बनी, जिसके मूल में हरी मणियाँ जड़ी हैं, बाँस की कोंपल के समान हरिताभ, पन्नों से राजी। और ऊपर उसके स्फटिक की चौकी है, चमकती-चिकनी। और दिन डूबते जब साँझ होती है तब मेघ के रंग का श्यामायित पालतू मयूर उस स्फटिक के फलक पर जा बैठता है। तब कड़ों के घुंघरुओं से झंकृत करों से ताल दे-दे वह गेहिनी उस मयूर को नचाती है,

और वह क्रीड़ाशैल के इन्द्रनील शिखर में मेघ की छाया पा उल्लसित हो अपने पंखों का मंडल खोल नाच उठता है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूले वद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
या मध्यास्ते दिवसविगमे नीलकंठः सुहृद्वः ॥

ऐसा वह यक्ष का भवन है, इन्द्रधनुष के-से तोरण-द्वार वाला, जिस द्वार के दोनों ओर शंख और पद्म की आकृतियाँ चित्रित हैं, जिसके विस्तृत प्रमदवन में कनक-कदली की बाड़ों से घिरा क्रीड़ाशैल है, अतिमुक्त के वासन्ती लतागृह हैं, रक्ताशोक और बकुल हैं, हस्तनम्य स्तवकधारी मंदार हैं, मरकत मणि जड़ी सोपान-मार्ग की सीढ़ियाँ हैं, वापी के नीलजल में फूलनेवाले वैदूर्य दण्डधारी डोलते कनक कमल हैं, और जिसके प्रमदवन की स्फटिकफलका वासयष्टि पर रसिका गेहिनी के ताल पर नाचने वाला नीलकण्ठ मयूर है।

पर यक्ष की स्मृति के निरन्तर खुलते जाते रम्य पटलों का वह गृह आज सर्वथा सूना है, उसके अभाव से सूना, जैसे सूर्य के अभाव से कमलवन का वातावरण सूना हो जाता है। गेहिनी है उसमें, वही गेहिनी जिसने कभी ऋतुओं के वैभव को उनके आगम में अपने प्रमदवन में उतारा था। पर आज वह स्वयं निस्पन्द है, विरह-विधुरा, प्रसाधनहीन सूनी आँखोंवाली, सूनी दृष्टिवाली, नितांत दुर्बल, आशा की मात्र आलोक-रेखा से जीवित।

'कनक छरी'-सी उसकी कमनीय काया, तपे कंचन की आभा से द्युतिमती उसकी अभिराम त्वचा की तरुणाई, कोटिमंत उसके दाँतों की पंक्तियाँ, पके कदम्ब जैसे उसके भरे लाल होंठ, नितांत क्षीण कटि, मृगी-सी भीता, गहरी नाभिवाली, नितम्ब के भार से आहिस्ता चलनेवाली और स्तनों के भार से तनिक आगे को झुकी हुई—यह तो जैसे ब्रह्मा ने तारुण्य और नारी सौंदर्य के ऋद्ध आकर से उपकरण चुन लिए हैं और उनके योग से उसकी काया सिरज दी है।

यक्षिणी की यह रूपरेखा उसके दूर बैठे यक्ष ने खींची थी, महीनों पहले; जब और आज के बीच निःसन्देह बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है—

अब तो उस यक्ष के दूसरे प्राणरूपिणी संगिनी की दशा दयनीय हो गई है, उस चकवी की तरह जो सहचर के दूर हो जाने से दयनीय हो जाती है, बोलती नहीं, प्रायः चुप रहती है। विरह के बड़ी कठिनाई और उत्कंठा से कटनेवाले लम्बे दिन जैसे-तैसे काटती हुई अब वह सर्वथा बदल गयी है। लगता है जैसे वह अब यक्ष-बाला नहीं रह गयी, पाले की मारी, शिशिरमथिता पद्मिनी हो गई है—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कंठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥

अहर्निश रोते रहने से नेत्र सूज गए हैं, निरंतर तत्ती साँसें लेते रहने से होठों की प्रकृत ललाई उड़ गई है, हाथ पर जो वदन बराबर चिन्ताकुल टिका रहता है, लम्बे रूखे बालों से ढका हुआ-सा, तो लगता है जैसे चन्द्रमा के निष्कलंक बिंब को बादलों ने जहाँ-तहाँ ढक रखा हो। चेहरा उदास खोया-खोया-सा—

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियायाः
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।

हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥

जानती नहीं बेचारी कि करे क्या वह, किस तरह अपने मन को घर के सूने में लगाए, किस तरह अपने भीतर के सूने को भरे। सो वह कभी एक कभी दूसरा कभी तीसरा धंधा करती रहती है। किसी में उसका मन नहीं लगता, कोई साधन उसके सूनेपन को भर नहीं पाता। कभी तो वह दौड़कर पति के सकुशल लौटने के लिए देवताओं की पूजा करने लगती है, कभी उसका चित्र बनाने लगती है, उसके दुर्बल तन का, जो कल्पना में पहले से और स्वाभाविक ही विरह की ताप से निश्चय दुर्बल होगा। और चित्र बनाती-बनाती एकाएक मीठे बैन बोलनेवाली पिंजड़े की सारिका के पास दौड़ जाती है, उससे पूछने लगती है—क्यों रे रसिके, कभी स्वामी की याद भी करती है, भला तू भी तो उसे इतनी प्रिय है ?

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पंजरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥

फिर वह यक्ष के विरचित पदों को, उसके कुल की कीर्ति के गीतों को, गाने के उपक्रम करने लगती है। मलिन वसन पहने भूमि पर बैठ जाती है, वीणा गोद में डाल लेती है, बड़ी साधों से अलाप लेने की कामना करती है, बात कुछ-का-कुछ हो जाती है, गाना उसके बस का नहीं रह जाता—तंत्री के तार आँखों से निरन्तर टपकते जाते आँसुओं से गीले हो जाते हैं, उन्हें जब वह जैसे-तैसे पोंछकर सुखा लेती है तब रोज़-रोज़ का किया रियाज़ ही सहसा भूल जाता है। नित्य उसने उस मूर्च्छना को अपने-आप बार-बार किया है पर आज जब वह मूर्च्छना ही भूल जाती है तब स्वरों का भला आरोहावरोह क्योंकर हो !

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

फिर शाप के बचे हुए दिनों की गणना वह देहली पर दिन-दिन डाले फूलों को गिन-गिन करने लगती है। और जब इन व्यापारों से भी मन की आकुलता नहीं मिटती, चित्त का विनोद किसी प्रकार नहीं होता, तब प्रिय के साथ किए पहले आमोदों अथवा हिये में अनायास अभिलषित काल्पनिक विलास का स्वाद लेने के लिए सहसा चुप हो जाती है। दिवास्वप्न रमण के आभाव में निश्चय विरहिणियों का सूना भरने में सहायक होता है।

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुव गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः।

यह तो विरहिणी का दिन का व्यापार है, रात तो और भी निर्मम हो उठती है। नीरव निशीथ नितांत लंबा हो जाता है, काटे नहीं कटता। साध्वी पर्यंक का आश्रय तो पति के अभाव में कब का छोड़ चुकी है, भूमि पर पड़ी विगत सौभाग्य के दिनों के सपने निद्राविरहित नेत्रों से देखा करती है। काश कि भवन के वातायन में मेघ का कोई टूक आ बैठता और उचरते कागा की तरह पिया का सँदेसा सुना देता !

एक दिन था जब प्रिय के सहवास में चार पहर की रात क्षणभर में बीत जाया करती, एक दिन है कि रमण के आभाव में वही रात काटे नहीं कटती, सालों लंबी हो जाती है। और तृण आदि की विरहशय्या पर एक करवट पड़ी वियोग में काया क्षीण हो जाने से चन्द्रमा की बची हुई कला मात्र-सी लगती मनोव्यथा से भरी रातें काटती जा रही है—

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

कितना कठिन है उसका जीवन—

ऐय्याम मुसीवत के तो काटे नहीं कटते,
दिन ऐश के घड़ियों में गुजर जाते हैं !

खिड़की की जाली से जब चन्द्रमा की किरणें छन-छनकर भीतर आती हैं तब उन्हें अपने विरहाग्नि से जलते शरीर को शीतल करने के लिये पकड़ने को बढ़ती है, यह जानकर कि ये किरणें वही बीती सुख की रातोंवाली हैं जिनकी परस अपने हज़ार हाथों से सुरत की ग्लानि हर लिया करती थीं। पर जब सुधाकर की वही किरणें आग की जलती बछियों-सी लगती हैं तब अपनी आँखों को विरहिणी आँसुओं से बोझिल पलकों से ढक लेती है और तब उसकी लम्बी पलकों से आधी खुली आधी बन्द आँखें ऐसी लगती हैं जैसे बादलों की छाया में पड़ी स्थल-कमलिनी हों, न जागतीं, न सोतीं—

पादानिन्दोरमृतशिशिरांजालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥

तेल, स्नानादि के अभाव में खुली हुई रूखी अलकें जो गालों पर लटक आती हैं होठों को दुखदायिनी सिद्ध होती हैं। उन्हें वह अपने मुँह की गरम हवा से फूँककर दूर हटा देती है। मनाती है कि आँख लग जाय और स्वप्न में ही चाहे प्रिय से साक्षात् हो जाय, सम्भोग हो जाय, पर आँसू हैं जो थमते नहीं और जो आँसू न थमें तो भला आँखें लगें कैसे, सपने आएँ कैसे ? पति से समागम कैसे हो ? सो कामना व्यर्थ हो जाती है, उन्निद्र आड़े आ जाता है।

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीतिनिद्रा-
माकांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥

प्रिय से विरह के पहले दिन ही विरहिणी ने जूड़े की फूल-माला निकाल फेंकी थी, वह फूलमाला जिसे शोक से मुक्त हुए यक्ष को ही विरहान्त में फिर से उस जूड़े में बाँधना है। और बालों को यक्षिणी ने अब एकत्र कर उनकी एक ही लट बना ली है। वही स्नेहहीन रूखी लट, जिसे छूने में भी क्लेश होता है, जब बार-बार गालों पर गिर जाती है, बार-बार तब वह उसे अपने बढ़े हुए नखोंवाली उँगलियों से हटाती रहती है—

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥

आभूषणों को सर्वथा त्याग अत्यन्त दुर्बल मृदुल शरीर को बड़े दुःख से शय्या पर डाल पाती है। मेघों को देख उस मृगाक्षी का वाम नयन फड़क उठता है, नयन जो स्निग्ध अंजन के अभाव में सूना लगता है और रूखी अलकों से ढके होने से उसका अपांग चल भी नहीं पाता, फिर वारुणी का सेवन दीर्घकाल से न करने के कारण उसे अपना भ्रू विलास भी विस्मृत हो गया है। हाँ, मेघों को देखने के लिए जब वह नयन अलकों के जाल से ढके-ढके फड़कने लगता है तब, लगता है, मछलियों के द्रुत वेग से चलने से जैसे कमल सहसा हिल उठा हो—

रुद्धापांगप्रसरमलकैरंजनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शंके मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥

ऐसी विरहिणी प्रिया की रक्षा के लिये दूरवासी प्रणयी

फिर क्या करे ? किस प्रकार वह दिन-दिन क्षीण होती जाती काया की लौ को जगाये रखे, मात्र विरहांत संयोग की आशा से ? दिवसगणना में तत्पर विरह के दिन दारुण दुःख से काटती नारी की रक्षा मात्र आशा की किरण से ही हो सकती है। वियोग में जलता हिया उसका निःसंदेह सूखकर कांटा हो जाय यदि आशा अपने आर्द्र सिंचन से उसे हरा न कर दे क्योंकि नारी का हृदय तो उस कुसुम की भांति है जो कुम्हलाकर गिर जाता है, पर जैसे गिरते हुए कुसुम को वृक्ष से लगा जाला अपने वृन्त में रोक लेता है वैसे ही आशारूप वृन्त भी नारी के पतितोन्मुख हृदय को रोककर नाश से बचा लेता है—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥

५

विरही का संदेश

●

विरहिणी यक्षी का जीवन आशा के कमज़ोर धागे से बँधा था और प्रिय यक्ष और उसके बीच न केवल शाप का अन्तर था बल्कि लम्बी दूरी का भी था, और दूरी ऐसी जो पैरों से तय न हो सके, जो महज़ लाँघी जा सके। जो कोई ऐसा हो कि पर्वतों की चोटियों पर पग धरता, नदियों और नगरों को लाँघता चले तब तो वह राह तय हो वरना कहाँ मध्यप्रदेश के अन्तराल में रामगिरि और कहाँ कैलास की शिखरवर्ती अलका !

विरहिणी की दशा तो निःसंदेह दयनीय थी ही, विरही यक्ष की दशा भी कुछ कम दयनीय न थी। पर हिया कुछ ऐसा कड़ा होता है, पत्थर से भी कड़ा, कि चाहे पहाड़ की छाती दरक जाय पर वह फट-फटकर भी नहीं फटता। मदिरमानस विरही भी अपनी कल्पनाओं के बोझ से दबा जब अपने हिये में झाँकता तब उसे वहाँ आशा की क्षीण बाती की टिमटिमाती लौ दिख जाती और उसे उस बुझती लौ से, उसके आलोक में, बिसूरती यादें जग उठतीं।

उन्हीं यादों के भरोसे वह जीता, प्रवास के लम्बे दिन काटता, लम्बी रातें काटता, और अलका की अपनी वाटिका के कुंज-कुंज

में रमता विरहिणी प्रिया की एक-एक क्रिया का अनुमान कर लेता। पर वह अनुमान स्वयं निर्दय हो उठता और अपनी उसकी चोटें ग़रीब विरही पर निरंतर टूटने लगतीं। जो अपने प्रवास की गिरि-गुहा में उस कामी ने कुछ मास जो किसी तरह काट लिए, हाथ गल चला, कलाई का कड़ा कुहनी पार कर चला, पर जब आरंभ आषाढ़ में उसने अपने आवास के गिरिशिखर पर नए मेघ को गजराज की भाँति वप्रक्रीड़ा में व्यस्त देखा तब जैसे उसके आवेगों का बाँध टूट गया—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥

विरही को लगा कि बीच की दूरी का प्रश्न अब हल हो गया क्योंकि उसके सामने वप्रक्रीड़ा में लीन जो अभिनव जलद है वह गिरिशिखरों पर अपने पग धरता, महाकान्तार और नदियाँ लाँघता, नगर लाँघता, कैलासगामी अलका तक जा सकता है। फिर तो अपने उमड़ते आँसुओं को जैसे-तैसे रोक धनपति कुबेर का वह दुर्बलकाय अनुचर किसी तरह उस जलद के सामने जा खड़ा हुआ। जब मेघ के दर्शन से प्रणयिनियों के कण्ठ से लगे प्रणयियों का मन और तरह का, जाने कैसा, हो जाता है तब भला उस ग़रीब के क्या कहने जिसे कुबेर ने प्रिया से दूर फेंक दिया था!

तब अपने मन में प्रिया को उसी प्रियाप्राणरक्षक मेघ द्वारा अपना कुशल संदेश भेजने का निश्चय कर जंगली कुटज के टटके फूलों से भर मीठे वचन कंठ में ला वह स्वागत के लिए खड़ा हुआ। कहाँ तो धुआँ, आग, जल और वायु का संघात अचेतन मेघ और कहाँ सचेत पटुकुशल प्राणि संदेशवहन में प्रवीण दूत का कार्य! पर जो कामार्त होते हैं उनमें चेतन और अचेतन का विवेक ही कहाँ रह जाता है? सो अपनी उतावली में उस विरही यक्ष ने

उसी मेघ से अपने काज की प्रार्थना की—

> जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
> जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
> तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
> याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

लोकविख्यात पुष्कर और आवर्तक जलद-कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, जानता हूँ, तुम इन्द्र के इच्छाचारी प्रधान पुरुष हो। इसीसे दैव के कोप से अपने बंधु-बान्धवों से बिछुड़कर तुम्हारे शरण आया हूँ, उबारो मुझे—और तुम भी जानो कि श्रेष्ठ के प्रति याचना विफल होकर भी स्तुत्य है, अधम के प्रति सफल होकर भी निन्द्य। संतप्तों के तुम शरण हो, पयोद, इससे मुझ धनपति के क्रोध से प्रिया से वियुक्त का संदेश मेरी उस प्रिया तक पहुँचा दो। तुम्हें यक्षेश्वर की प्रसिद्ध नगरी अलका जाना होगा जिसके बाहरी उद्यान में रहनेवाले शिव के चूड़ा-चन्द्र की चाँदनी उसके उन्नत भवनों को अपनी अजस्र श्वेत धार से धोती रहती है।

और विरही उस गंतव्य अलका की राह अपने सुहृद् मेघ को समझाने लगा। नगर-जनपदों का वैभव उस राह के अंकन में भर उपत्यकाओं-वनस्थलियों का सौरभ लुटाता, जांगल प्रदेशों और पर्वती अंचलों का विहगावलोकन करता यक्ष अपनी मदिर वाणी मुखरित करने लगा। विरहिणी प्रिया के दयनीय जीवन का वर्णन करता हुआ वह बोला—देखो, मित्र, मलिनवसना मृतप्राया जो वह मेरी सखी तृण-पल्लवों की शय्या पर निष्प्राण-सी पड़ी हो और उसकी अधखुली आँखें तुम पर गवाक्ष में जब आकर टिकें तब हल्की वायु को अपने सीकरों से शीतल कर उसके स्पर्श से, धीरे-धीरे बोलकर, उस मानिनी को जगाने का प्रयत्न करना। कहना उससे—देखो, सुहागिन, मुझ जलद को, तुम्हारे भर्ता का प्रिय मित्र हूँ मैं, उसका संदेश अपने हिये में सँजोकर तुम्हारे निकट आया हूँ। जानती हो तुम निःसंदेह, मेघ हूँ मैं जो विरहिणी अबलाओं की एकवेणी खोलने की उत्कंठा से

प्रियाओं के प्रति तेज़ी से लौटनेवाले प्रवासियों की थकान मार्ग में अपनी धीर मधुर स्नेहसिक्त वाणी से मेटता हूँ ।

और तब जब तुम्हारे इतना कहने पर वह उत्कंठित आर्द्र-हृदया प्रिया पवनतनय के प्रति जानकी की भाँति तुम्हारी ओर देख आश्वस्त हो जाय तब तुम मेरा संदेश उससे कहना । क्योंकि जानो कि नारियों को मित्र द्वारा प्रिय का संदेश पाकर पति के संगम के प्रायः बराबर ही सुख होता है । सो तुम अपनी उपकार-वृत्ति से मेरे वचनों द्वारा उससे कहना कि तुम्हारा सहचर राम-गिरि के आश्रम में प्रवास के दिन काट रहा है, विपन्न है पर अभी जीवित है, और तुम्हारे वियोग से कातर हो तुम्हारी कुशल पूछ रहा है । दुर्दैव के मारे प्राणियों को हज़ार संकट आए दिन घेरे रहते हैं, इससे पहले उनसे कुशल पूछनी ही समीचीन है । और चूँकि वैरी विधाता ने उसकी राह रोक रक्खी है वह केवल संकल्पों से, मनोरथों मात्र द्वारा तुमसे तादात्म्य करता है, तुम्हें भेंटता है—तुम्हारे क्षीण अंग को अपने क्षीणतर अंग से, तुम्हारे संताप को और गाढ़े संताप से, तुम्हारे आँसुओं को वेगतर आँसुओं से, तुम्हारी निरंतर की वेदना को अधिकतर घनी वेदना से, तुम्हारे उष्ण उच्छ्वासों को उष्णतर उच्छ्वासों से । इन्हीं संकल्पित विविध विधियों से तुम्हारा वह दूरवर्ती सहचर अपनी विवशता में दूर से ही तुम्हारी विविध दशाओं में प्रवेश पाने के उपक्रम कर रहा है—

> अंगेनांगं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
> सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
> उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
> संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ।।

एक दिन था जब तुम्हारे आनन के स्पर्श का लोभी तुम्हारा प्रियतम सखियों के सामने कही जानेवाली बात को भी रहस्यमय बना कान में कहता था, वही आज कान-आँख की परिधि से बाहर हो गया है और उत्कंठा का मारा जैसे-तैसे कुछ शब्द

जोड़ मेरे मुँह से संदेशा कहला रहा है, सो सुनो—

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां वर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
न्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चंडि सादृश्यमस्ति ॥

निश्चय श्यामालता में तुम्हारे तन की भंगिमा पाता हूँ, सभीता मृगी की आँखों में तुम्हारी बाँकी चितवन भी, चंद्रमा के बिंब में तुम्हारे मुखमंडल का आभास मिल जाता है, जैसे मोर के मंडल में तुम्हारा केश-कलाप, उसी प्रकार क्षीण नदियों की बाँकी लहरियों में तुम्हारी चंचल भौंहों के तेवर भी देख लेता हूँ, पर हाय, मानिनि, एकत्र कहीं तुम्हारी समूची सुघराई नहीं देख पाता !

और अभाग तो देखो, रानी, गेरु से शिला के ऊपर तुम्हारा प्रणयकुपित चित्र बनाता हूँ, फिर मानभंजन के निमित्त तुम्हारे चरणों में पड़ी अपनी आकृति खींचना चाहता हूँ । पर ऐसा कर नहीं पाता । घातक यम चित्र तक में हमारा संयोग नहीं देख पाता—मेरी आँखें आँसुओं से बार-बार भरकर उन्हें अंधा कर देता है, दृष्टिपथ बंद हो जाता है और मैं चित्र पूरा नहीं कर पाता—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

और देखो, सपने में जब कभी भाग्यवश तुम मुझे मिल जाती हो और तुम्हारे निर्मम आलिंगन के लिए मैं अपनी बाँहें शून्य में फैला देता हूँ तब मेरी कातर दशा देख हास्यास्पद बाहुचेष्टा से द्रवित वनदेवियाँ रो पड़ती हैं और उनके बड़े-बड़े मोतियों से आँसू तरु-पल्लवों पर बिखर पड़ते हैं ।

गुणवति, देवदारुओं के पल्लवपुटों को हिमालयवर्तिनी वायु सहसा तोड़ देती है । उनका दूध ऊपर छलछला आता है । और

वही वायु जो उस दूध की सुरभि लिए दक्षिण की ओर बह चलती है तो बड़ी उत्कंठा से दौड़कर उसका आलिंगन करता हूँ, कदाचित् वह तुम्हारे अंगांगों को परसकर आई हो !

चपलनयने, रात में सोचता हूँ, रात के ये लम्बे पहर कैसे क्षणभर में काट लूँ, दिन में सोचता हूँ, निरन्तर उठती रहने वाली हूकें कैसे झेलकर खत्म कर दूँ, हिये की जलन को कैसे सहसा मन्द कर दूँ। पर मेरी ये साधें व्यर्थ हो जाती हैं। तुम्हारी विरहव्यथा ने यह घना संताप देकर मुझे निरवलंब छोड़ दिया है।

देखो, कल्याणि, भविष्य की अनेक साधों की कल्पना कर मैं अपने को सम्हाल रहा हूँ, तुम भी अपने को वैसे ही सम्हालो, अधीर कातर न हो। और जानो कि कोई ऐसा नहीं जिसे केवल सुख ही मिलता हो, न कोई ऐसा ही है जो एकान्तिक दु.ख का शिकार हो। अरे, सुख-दुःख तो रथ के पहिये की तरह हैं, कभी सुख ऊपर होता है दुःख नीचे, कभी दुःख ऊपर होता है सुख नीचे।

आखिर हरि के शेष-शय्या छोड़ते ही हमारे शाप का अन्त होगा। तब तक के चार मास आँख मूँदकर काट लो। फिर तो कातिक की चाँदनी रातें और हमारी गुनी हुई साधें ! जो-जो इस विरह के बीच हमने गुना है वह सारा उन उजाली रातों में हम कर गुज़रेंगे।

अबले, तुम्हारे प्रिय ने गोपनीय भी कुछ कहा है—जब तुम एक बार मेरे गाढ़ालिंगन में कसी सो रही थीं तब सहसा रोती हुई जग उठी थीं और मेरे बार-बार कारण पूछने पर मुस्कराकर तुमने कहा था, छलिये, सपने में तुम्हें मैंने किसी और के साथ रमते देखा—

> भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
> निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
> सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
> दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥

मेरी इस कथा से मुझे पहचानो, रानी, मुझे सकुशल जानो। लोकापवाद पर कहीं विश्वास न कर बैठना, मेरे प्रति, मेरे जीवन के प्रति, अपनी आस्था न डिगा देना। और न कहीं यही मान बैठना कि वियोग में स्नेह घट जाता है। ना, संभोग के अभाव में वह उलटे बढ़ जाता है, संचित रस राशि बन जाता है।

तुम्हारे उस सखा ने और कहा है कि जाओ, मित्र, पहले विरह-ताप से तपी प्रिय सखी को मेरे संदेश से सान्त्वना दो, फिर नन्दी की वप्रक्रीड़ा से विदारित उस कैलास से तत्काल लौट मुझे भी ढाढ़स बँधाओ। और जो लौटो तो प्रिया से गोपनीय परिचयात्मक संवाद लिये आओ, कि मेरा हिया भी हरा हो जाय, कि प्रातःकालीन कुन्द-कुसुम-सा मेरा शिथिल जीवन भी फड़फड़ा उठे!

●

६

सर्गान्त

कालिदास की कृतियों में भी अन्य कवियों की ही भाँति सर्ग का अन्त प्रसंगत: होता है। जब प्रतिपाद्य दृश्य समाप्त हो जाता है तब सर्ग अपने-आप बन्द हो जाता है। यही स्थिति उनके नाटकों के अंकों की है। परन्तु एक विशेष स्थिति ऐसी भी है जब परिस्थिति की अनिवार्यता उन्हें अपना सर्गविशेष पटाक्षेप द्वारा समाप्त करना पड़ता है। स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि उसके बाद प्रबन्ध या कथा का अंकन, कम-से-कम उस सर्ग या अंक में, अब सम्भव नहीं हो पाता।

यदि कथा का प्रसार निश्चय रूप से वर्णन की अपेक्षा करता है तब बड़े संक्षेप में कवि अगली स्थिति को बताकर आगे का सर्ग शुरू करता है। 'अभिज्ञान शाकुंतल' के पाँचवें अंक में जब राजा शकुंतला के साथ अनिर्वचनीय व्यवहार कर उसे निकाल देता है तब उस नितांत करुण स्थिति को सँभालने के लिये कवि एक आकस्मिक अपार्थिव घटना का उल्लेख करता है—

उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम—

सहसा एक ज्योति आकाश से उतरी और शकुंतला को

उठाकर उड़ गई। वस्तुतः पत्नी-त्याग की परिस्थिति इतनी कठिन थी कि अंकों और दृश्यों का विधायक नाटककार भी उसका विस्तार न कर सका। उसके बाद यदि कुछ कहना बाक़ी रह गया तो वह मात्र घटना का उल्लेख था जिसकी ओर संकेत कर उसने अंक समाप्त कर दिया।

काव्यों में कालिदास ने ऐसी परिस्थिति को नितांत उदात्त कथन अथवा मुद्रा द्वारा निर्दिष्ट किया है। 'रघुवंश' के चौदहवें सर्ग में जब लक्ष्मण सीता को घने वन में छोड़ते समय राम का आदेश सुनाते हैं तब भी कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होती है। नारी को उस चोट से कवि स्तम्भित कर कथा का विस्तार कर सकता था पर ऐसा न कर उसने उसे संज्ञालुप्त कर दिया है क्योंकि दीर्घकाल तक पति के निकट रहकर और दूर प्रवास में भयंकर परीक्षा के बीच भी जिसने विवेक और सदाचार न खोया था उसका परित्याग एक किंवदंती के परिणामस्वरूप इतना भयंकर था कि उसका सम्बोधन किसी प्रकार भी सह्य न हो सकता। सो कवि ने ऐसा सोचकर ही उसे बेहोश कर दिया जिससे उस 'शाक' से उसका परित्राण उस काल हो जाय। पर वह 'शाक' कितना गहरा हो सकता था, परिस्थिति कितनी नाज़ुक, दयनीय और कठिन थी इसका बोध कराने के लिए कालिदास ने पराक्रमी लक्ष्मण को अपना लक्ष्य बनाया—**सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं**—सीता ने उस आदेश को सुन चुकने के बाद परिणामतः होनेवाले दुःख को न जाना, पर उसका पूरा फ़ोकस लक्ष्मण के ऊपर पड़ा। कालिदास ने अन्यत्र, आठवें सर्ग में, अजविलाप के प्रसंग में कहा है कि विधाता के पास विविध जनों को मारने के विविध साधन हैं; जो जिस योग्य होता है उसे उसके अनुकूल साधन से ही देव मारता है—

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।

मृदु वस्तुओं के नाश के लिए काल मृदु साधनों का ही उपयोग करता है, जैसे इस प्रसंग में इंदुमती के निधन के लिए

उसने फूलों की माला का उपयोग किया। सो सीता का दुःख इतना मार्मिक होता कि सालों-साल वनों और प्रवास के दुःख झेलने का आदी होकर भी उसका तन उसे बर्दाश्त न कर पाता। इससे उस प्राणान्तक दुःख की एकांतिक आकस्मिक चोट से तत्काल बचा लेने के लिए कवि ने उसे 'लुप्तसंज्ञा' कर दिया। पर उस आनुपातिक विवेक की आवश्यकता कवि को लक्ष्मण के लिए न थी, इससे उनको उसने परिस्थिति की समूची कठोरता जानने और सहने के लिए सर्वथा जागरूक रखा। तब बेहोशी में जागकर, पहली चोट से सँभलकर क्रूर आचार की रुचि बनाये रख सीता ने यह सोचा कि क्रोध अपराधी से हटकर उसके साधन को अपना लक्ष्य न बना ले, पैरों पर पड़े लक्ष्मण को उठाते हुए उसने समुचित ही कहा—प्रसन्न हूँ, सौम्य, चिर जीओ !

प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव !

पर जब अनुक्रम से अपनी सासों के प्रति कथनीय कह चुकी तब उसके प्रति वह क्या कहे जिसने उसे भरपूर सती जानकर भी घने वन में भेजा, इसकी सुधि उसे आयी ! और उसके प्रति उसने जो संवाद भेजा उसका जोड़ साहित्य में नहीं—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥

मेरी ओर से जाकर कहो उस राजा से कि मुझे आग में तपाकर विशुद्ध पाकर भी जो उसने लोकापवाद के कारण इस प्रकार मेरा परित्याग किया वह क्या उस महान् कुल को गौरवान्वित करेगा, उसके योग्य है, जिसमें उसने जन्म लिया है ? 'मद्वचनात्'—साधारणतः उस काल की बातचीत में राजकीय परंपरा थी और राजा ही उसका प्रयोग करता था। सो रानी ने राजा के प्रति उन्हीं शब्दों का उपयोग किया जो राजा दूसरों के प्रति किया करता था। अपनी उस गरिम वाणी से सीता ने घोषणा कर दी कि उसकी महिमा परित्याग से घटी नहीं, और उस घोर वन से भी राजा को जिसने उसे पति की रक्षा न देकर

मात्र राजा का अनुचित दण्ड दिया, उसने धिक्कार कर कहा कि उसका वह आचरण अकीर्तिकर है, उसके महान् कुल के व्यक्तियों के आचरण के सर्वथा प्रतिकूल। लक्ष्मण के रहते उसने अपनी कायिक अथवा मानसिक दुर्बलता प्रकट न होने दी और यदि वह 'कुररी' की भाँति रोयी भी तो तब जब लक्ष्मण सुनने की परिधि से दूर बाहर हो चुके थे, जब नितांत नारीत्व की संज्ञा लौटी और सदा पति की छाया बनकर रहनेवाली सीता ने छाया के कारण को निकट न देखा। पर जो संवाद उसने राजा को भेजा वह संवाद निश्चय साहित्य में बेजोड़ है। शकुंतला का दुष्यंत के प्रति धिक्कार प्रगल्भ है, प्रगल्भता का व्यापार द्रौपदी का कवि भारवि के 'किरातार्जुनीय' में प्रकाशित है जहाँ उसने अपने व्यंग्यात्मक बाणों से मार-मार अपने पाँचों समर्थ पतियों को जर्जर कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप महाभारत का भीषण युद्ध घट पड़ता है। परंतु सीता की वह शांत विनीत वाणी जो अकथित की ध्वनि उत्पन्न कर सार्थक होती है, उसकी शक्ति वस्तुतः न शकुन्तला के धिक्कार में है न द्रौपदी के वाग्विस्तार में। और उसकी स्थिति का अंत भी वाल्मीकि ने, उसके विलाप के बाद एकांतिक उदात्त कथन से किया है। वाणी की ओजस्विता इस मात्रा में संभवतः स्वयं वाल्मीकिकृत 'रामायण' में इस प्रकार न फूटी—

> तवोरुकीर्तिः श्वसुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते।
> धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या॥

मेरी कृपा की भीख माँगने का प्रसंग कहाँ? पिता और श्वसुर के तुम्हारे दोनों कुल असाधारण हैं—तुम्हारे प्रख्यात श्वसुर दशरथ मेरे सखा थे, तुम्हारे विख्यात पिता जनक ज्ञानियों को ज्ञान द्वारा भवसागर से मुक्त करनेवाले हैं, स्वयं तुम पतिव्रताओं की धुरी हो, उनमें अग्रणी। भला तुम्हें मेरी अथवा किसी और की अनुकम्पा की अपेक्षा क्या है?

परंतु जिस सर्गान्त की बात हम नीचे कहने जा रहे हैं वह प्रभाव और प्रभाव के विस्तार में इन दोनों प्रसंगों से भिन्न

न किसी ने एक शब्द कहा भी, न साथ की सखियों ने और न ऊपर से निहारते कलपते देवताओं ने। एक शब्द भी स्थिति की कारुणिकता को दूषित कर नाट्यप्रभाव कमज़ोर कर देता। और कालिदास नाट्यप्रभाव के प्रदर्शन में अपना सानी नहीं रखते। सो उन्होंने इस असाधारण परिस्थिति में असाधारण नाटकीयता का प्रयोग किया। पहले तो उमा को भी परित्यक्ता सीता की ही भाँति बेहोश कर दिया—मुकुलिताक्षी—फिर साथ की सखियों को भुला, आकाश के देवताओं को भुला, समस्त चराचर को भुला उन्होंने सहसा उस स्थल पर उस एक व्यक्ति को ला खड़ा किया जो पति द्वारा रक्षाकार्य भुलाकर परित्यक्ता कन्या को वह अकेला सँभाल सकता था—पिता हिमालय को।

पतिपरित्यक्ता शकुन्तला को पितृधर्मा माता मेनका ने 'अभिज्ञान शाकुंतल' में संभाला, पतिपरित्यक्ता सीता को पितृधर्मा वाल्मीकि ने 'रघुवंश' में सँभाला और अब प्रिय के प्रेम से वंचिता क्रोध से उपेक्षिता कन्या उमा को स्वयं पिता हिमालय ने सँभाला। और वह भी बोलकर नहीं मात्र आचरण द्वारा आश्वस्त कर—

> सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
> दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम्।
> सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
> प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृतांगः ॥

हिमालय बड़ी तीव्रता से घटनास्थल पर पहुँचे और रुद्र के संहारक भय से भीता प्रायः लुप्तसंज्ञा आधी बंद आँखोंवाली कन्या को जनकजन्य अनुकम्पा के वशीभूत वे ऐरावत के दाँतों से लगी कमलिनी की भाँति सहसा गुफाओं में उठाकर अपने ऊँचे शरीर को और ऊँचा करते हुए वेग से जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से वापस लौट गये।

संसार के साहित्य में इतना वेगवान्, इतना मूक, इतना प्रभावजनक नाट्यस्थल नहीं, इतना सारभूत सार्थक पटाक्षेप

है, शकुन्तला के अनादर से भी, सीता के परित्याग से भी। वह प्रसंग है 'कुमारसंभव' के तीसरे सर्ग के अंत का, नितांत अन्त का, अंतिम छंद का। उस सर्ग में उमा अपना वहुविध प्रसाधन कर सखियों सहित समाधिस्थ शिव की विजय के लिए कैलास के लतागृह की ओर जाती है। मदन उसका सहायक होता है, शिव क्षणभर के लिए विचलित होते हैं और अपनी अधीरता में योगी के प्रतिकूल आचरण कर बैठते हैं। विवेक का तब सहसा उदय होता है और क्षणमात्र में शिव मदन को अपने तीसरे नेत्र की ज्वाला से जलाकर राख कर डालते हैं। ऐसी स्थिति में जो गति उमा की होती है वह मदन की गति से भी भीषण है, विधवा रति की दशा से भी दयनीय।

वस्तुतः निर्मम दैव ने उमा की स्थिति इतनी कठिन कर दी है कि कोई औपचारिक अथवा अनौपचारिक सान्त्वना तब उसे सँभाल न पाती। उसने देखा कि वृक्ष निष्कंप हो, भौंरे अपना कूजना बंद कर, पक्षी चुप हो, पशु अपना संचरण सहसा बंद कर जैसे साँस रोके योगिराज पर रूप का यह आक्रमण देखते रहे हैं, कि आसमान में ठसे देवता अपने संकट से रक्षा के लिए सहायक मदन का व्यापार चुपचाप देखते रहे हैं, और देखते ही देखते सहसा सारी आशा का प्रधान उपकरण काम जलकर नष्ट हो गया है। जिस रूप का रूपगर्विता को गर्व रहा था और जिसके बल पर उसने यह पुराण-प्रसिद्ध अभिनय किया था वह असफल व्यर्थ हो गया। और जो घटा भी वह मात्र शाब्दिक प्रति-कार न था कायिक नाश था, वैधव्य-सूचक अशुभ, जिसकी उमा ने कल्पना तक न की थी।

चराचर जो सहसा स्तब्ध हो गया था, क्षुब्ध रुद्र के तीसरे नेत्र के बन्द हो जाने पर भी, उनके क्रोध और संहार के प्रति देवताओं की भीत वाणी मात्र दिशाओं से टकरा-टकराकर आकाश में गूँज रही थी—क्रोधं प्रभो संहर संहरेति, निश्चय एक शब्द की, एक आवाज़ की भी तब कहीं गुंजायश न थी और

न किसी ने एक शब्द कहा भी, न साथ की सखियों ने और न ऊपर से निहारते कलपते देवताओं ने। एक शब्द भी स्थिति की कारुणिकता को दूषित कर नाट्यप्रभाव कमज़ोर कर देता। और कालिदास नाट्यप्रभाव के प्रदर्शन में अपना सानी नहीं रखते। सो उन्होंने इस असाधारण परिस्थिति में असाधारण नाटकीयता का प्रयोग किया। पहले तो उमा को भी परित्यक्ता सीता की ही भाँति बेहोश कर दिया—मुकुलिताक्षी—फिर साथ की सखियों को भुला, आकाश के देवताओं को भुला, समस्त चराचर को भुला उन्होंने सहसा उस स्थल पर उस एक व्यक्ति को ला खड़ा किया जो पति द्वारा रक्षाकार्य भुलाकर परित्यक्ता कन्या को वह अकेला सँभाल सकता था—पिता हिमालय को।

पतिपरित्यक्ता शकुन्तला को पितृधर्मा माता मेनका ने 'अभिज्ञान शाकुंतल' में संभाला, पतिपरित्यक्ता सीता को पितृधर्मा वाल्मीकि ने 'रघुवंश' में सँभाला और अब प्रिय के प्रेम से वंचिता क्रोध से उपेक्षिता कन्या उमा को स्वयं पिता हिमालय ने सँभाला। और वह भी बोलकर नहीं मात्र आचरण द्वारा आश्वस्त कर—

> **सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या**
> **दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम्।**
> **सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां**
> **प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृतांगः ॥**

हिमालय बड़ी तीव्रता से घटनास्थल पर पहुँचे और रुद्र के संहारक भय से भीता प्रायः लुप्तसंज्ञा आधी बंद आँखोंवाली कन्या को जनकजन्य अनुकम्पा के वशीभूत वे ऐरावत के दाँतों से लगी कमलिनी की भाँति सहसा गुफाओं में उठाकर अपने ऊँचे शरीर को और ऊँचा करते हुए वेग से जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से वापस लौट गये।

संसार के साहित्य में इतना वेगवान्, इतना मूक, इतना प्रभावजनक नाट्यस्थल नहीं, इतना सारभूत सार्थक पटाक्षेप

नहीं, सर्वदा शब्दहीन पर नितांत समर्थ, स्थिति पर पूर्णतः विजय पा लेने वाला पटाक्षेप। स्थिति की तेज़ी जितनी इस श्लोक में प्रकाशित है मूककार्यशीलता का सामर्थ्य उतना ही अभिव्यंजित है। तीन बार इस छन्द में कवि ने तीव्रताव्यंजक शब्दों का प्रयोग किया है—एकबार 'सपदि' द्वारा, दूसरी बार 'वेग' और तीसरी बार गतिध्वनिक 'प्रतिपथ' द्वारा। हिमालय तेज़ी से वनस्थली में प्रवेश करते हैं, कन्या को सहसा भुजाओं पर उठा लेते हैं और ऐरावत की भाँति बड़े-बड़े डग भरते तीव्र गति से उल्टे पैरों लौट जाते हैं। 'प्रतिपथ' पद में बड़ी शक्ति है, 'सपदि' और 'वेग' से भी अधिक। अर्थ है जिस राह आये उसी राह जाना, जिन पैरों आये उन्हीं पैरों उल्टे लौट जाना। घनी तीव्रता का द्योतक है यह शब्द। श्लोक में कहीं आवाज़ नहीं, मात्र मूक वेगवान् क्रियाशीलता है, और है उसमें ध्वनि की वह एकांतिक व्यंजना जिसमें सौ-सौ काव्यों की चिरंतन आवाज़ भरी है। हिमालय की भुजाओं के लिए न कवि ने 'बाहुओं' का इस्तेमाल किया न 'भुजाओं' का, 'दोर्भ्याम्' का किया है। क्यों ? क्योंकि इस प्रकार की उदात्त रक्षापर्याय परिस्थिति में 'दोर्भ्याम्' शब्द का प्रयोग ही होता आया है। भारत की रक्षा के लिए स्कन्दगुप्त की भुजाओं के समर में हूणों से टकराकर भँवर बना देने की स्थिति को गुप्तकालीन कवि ने 'दोर्भ्याम्' पद से ही प्रकट किया है—

> **हूणस्य यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।**
> **भीमावर्त्तकरस्य—**

और हिमालय 'मुकुलिताक्षी' कन्या को वैसे ही उठा लेता है जैसे गजराज ऐरावत नलिनी को दाँतों से उठा लेता है। बड़ी व्यंजना है इस उपमा में, बड़ी ध्वनि है। रक्षा का कार्य अत्यंत उदार होता है, उससे रक्षित और रक्षक के बीच का कायिक अनुपात अत्यंत बढ़ जाता है। कहाँ कमलिनी, वह भी गजेन्द्र के प्रलंब दाँत से लगी, लगी मात्र, जिससे गजराज की अनायासता का बोध होता है, और कहाँ ऐरावत का उन्नत शरीर ! स्थिति

बिल्कुल वही है जो कालिदासकालीन गुप्त मूर्तिकार ने उदयगिरि की गुफा में पृथ्वी की रक्षा करते हुए महावराह की चट्टान में उभारी है—एक घुटना ज़रा आगे को झुका हुआ है, कमर अपने-आप जैसे आगे को खिंच आयी है और उस पर हाथ आ टिका है और थूथन के लंबे दाँत से पृथ्वी की नितांत छोटी मूर्ति चिपकी हुई है। कहाँ पृथ्वी, जिसकी संज्ञा में ही विस्तार और पृथुता का भाव निहित है, और कहाँ उसके अनुपात में उसके ऊपर तेज़ दौड़नेवाला शूकर-वराह ? पर वहाँ तो वराह पृथ्वी का रक्षक है और दोनों के कायिक अनुपात में इसी कारण घना अंतर पड़ जाता है। रक्षक महावराह विशाल हो जाता है और रक्षिता पृथ्वी नितांत क्षुद्र हो जाती है। ठीक इसी प्रकार सुरगज और पद्मिनी के ही अनुपात में हिमालय भी अपनी कन्या के समक्ष अपनी ऊँचाई व्यक्त करता है। वह रक्षिता कन्या के अनुपात में तो पिता रक्षक के अनुपात में महान् है ही वैसे भी उसकी प्रकृत ऊँचाई धरा पर सबसे अधिक है—२९०२८ फुट। पर हिमालय उससे भी संतुष्ट नहीं होता, अपने शरीर को खींचकर और ऊँचा कर लेता है—'दीर्घीकृतांग'—यह केवल इसलिए कि कन्या आश्वस्त हो जाय कि उसका आश्रय कुछ साधारण नहीं है, कि शिव के संहार से उसके संरक्षण की प्रभुता कुछ कम नहीं, कि अपनी मूक मुद्रा से, अपने असीमित औदार्य से वह रुद्र के क्रोध को भी तुच्छ गिनता है। सही, पति अथवा प्रिय की पालनवृत्ति से वंचिता नारी का एकमात्र आश्रय पालक पिता है। और इसीसे कालिदास ने कहा कि हिमालय तीव्र गति से वनस्थली में आये, रुद्र के क्रोध के परिणाम से डरी प्रायः संज्ञालुप्त कन्या को ऐरावत के दाँत से लगी कमलिनी की भाँति अपनी विशाल भुजाओं में निःशब्द उठाकर अपने ऊँचे शरीर को और भी ऊँचा करते वेग से जिस राह आये थे उसी राह, जिन पैरों आये थे उन्हीं पैरों लौट गये। और कवि सर्ग समाप्त कर देता है।

●

७

"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता"

'रूप का उद्देश्य प्रिय को आकृष्ट कर लेना है'—कालिदास की यह वाणी उनके उमा और शिव के संबंध में खूब ही घटी है। 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग से पाँचवें सर्ग तक के प्रबन्ध में कवि ने अपनी इस वाणी की सत्यता का उद्घाटन और विस्तार किया है। नारी के जीवन में, चाहे वह नारी उमा के से ऋद्ध श्रीमान परिवार की हो चाहे अकिंचन श्रीहीन परिवार की, एक समय आता है जब कायिक सौंदर्य उसे संसार को चुनौती देने पर बाध्य करता है। रूप का यह अहंकार निःसंदेह अनिवार्य होता है और जब उसकी सत्ता टूट जाती है तभी जीवन का औचित्य दाम्पत्य की परिधि में मौज मार पाता है।

रूपगर्विता उमा का वह अहंकार टूट जाने के बाद स्वयं शिव ने उस तपस्विनी को उसके एकांतिक तप के परिणाम में समझाया था—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

परन्तु इस सत्य के प्रकाश के पहले जब उमा 'संचारिणी पल्लविनी लतेव' शिव की विजय को निकली तब तो रूपगर्विता का वह अहंकार उस पर हावी था ही। सम्यक् प्रसाधन कर—कुंचित

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता

कुंतलों में वसंत के टटके फूल गूँथ, कपोलों पर मकरन्द झरनेवाले सिरस के फूलों को कानों पर बाँध, चिबुक से दोनों ओर कपोलप्रसारित आकर्ण आकर्षक श्वेत कमनीय त्वचा-भूमि पर पत्र-विशेषक की लता-टहनियाँ लिख, होठों को आलते से रँग उनपर लोध का चूर्ण डाल, हाथ-पैरों को महावर से रँग डग-डग डगर पर रक्तांक छोड़ती, हाथ में लीलारविंद धारे होठों पर बरबस गिरते भौरों को उससे चकित निवारित करती जब उमा विजयवैजयंती-सी फहराती शिव की विजय को निकली तब निश्चय उसका अभियान यम के प्रति यमी के अथवा अर्जुन के प्रति उर्वशी के अभियान से कुछ कम न था। पर उसकी यह विजय-यात्रा भी उन्हीं के अभियानों की भाँति निष्फल हो गई, उन्हीं की भाँति वह निराश हो लौटी। अन्तर दोनों में बस इतना था कि जहाँ उनके अभियान केवल अभिसार के सुख तक सीमित थे उमा का अभियान दाम्पत्य की अभिलाषा लिये था। उसके रूप का गर्व टूट जाने पर साधना-भूमि से उठ फिर वह सफल हुआ और आराध्य शिव 'क्रीतदास' हुए।

असाधारण दृश्य है। कैलास की उपत्यका सहसा वसंत के साधनों से उमग उठी है। तुषारहत तरु-लताएँ सहसा फूलों से अघा उठी हैं, उनके कुड्मल मुकुलित हो सर्वत्र पराग बरसाने लगे हैं, कोकिल कूक-कूक मानिनियों को अपने प्रियों के प्रति मानभंजन के निमित्त पुकार-पुकार आश्वासित करने लगे हैं। भौंरा कुसुमरूपी एक ही पात्र में मधु ढाल पहले प्रिया को पिला बाद स्वयं पीने लगा है, कृष्णसार मृग अपनी मृगी के नेत्र का कोया अपनी सींग से खुजा रहा है और उसके स्पर्श से मदी मृगी अर्धनिमीलित नयनों से अभिराम लगने लगी है, स्वप्निल है। उधर सरोवर में उतरते हुए गजराज को हथिनियाँ कमल की गंध से बसा जल अपनी सूँड में कुछ देर रख आत्मविभोर हो दे रही हैं और गजराज कमलदण्ड तोड़-तोड़ उनके मस्तक पर साभार रखता जा रहा है। चकवा प्रकृति की क्रूरता से अवगत

होने के कारण मृणाल की मिठास पर अनायास विश्वास नहीं कर पाता और उसे पहले चखकर तभी बचे हुए को अपनी 'जाया' चकवी को खिलाता है, दाम्पत्य का अभिराम सहधर्माचरण आचरित करता है।

इस वसंत द्वारा पल्लविता, पुष्पिता वनस्थली में सर्वत्र स्पंदित प्रमत्त जीवन के बीच बस मात्र एक स्थल है, लताओं के घिरे कुंज के भीतर एक लिपी वेदी, जिसपर शिव 'चैलाजिन-कुशोत्तरं' पद्मासन में समाधिस्थ बैठे हैं। ललाट का तीसरा नेत्र बन्द है, शेष नेत्रयुगल की अधखिली ज्योति नासाग्र पर टिकी है। श्वेत शरीर भस्भावृत है जिसके संधिस्थलों पर लिपटे भुजंग स्वामी की समाधिक्रिया से अवगत निश्चल पड़े हैं। योगिराज शरीर के नवों द्वारों को बन्द कर योग की जिस आनंदस्थिति में विचर रहे हैं उसका गुमान भी दूसरे योगी नहीं कर पाते।

उनके इस रूप को देख देवताओं का कार्य साधने आए हुए सामने के नमेरु वृक्ष की सन्धि पर अपना तन टेके मदन को भय ग्रस लेता है और निराशा में उसके हाथ से बाण और धनुष नीचे सरक पड़ते हैं—स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्। शंभु के सान्निध्य से काँपते पसीना-पसीना हुए काम की यह गति होनी स्वाभाविक ही थी।

और इधर शिव के लतागृह के द्वार पर उनके गणों का नायक नंदी बायीं भुजा पर स्वर्णदंड टेके उँगली होठों से लगाये गणों को खबरदार कर रहा है—सावधान, चंचलता बन्द करो! —'मा चापलाय'! नतीजा यह होता है कि नंदी के आदेश से वृक्ष निष्कंप हो जाते हैं, भौंरे कमलों में दुबक जाते हैं, पक्षी, सर्पादि अण्डज नीरव हो जाते हैं, चुप, और मृगों तथा पशुओं का चलना-फिरना सहसा बंद हो जाता है, समूचा जंगल जैसे चित्रित निस्पंद हो उठता है।

जब सुरभित वनस्थली, समाधिस्थ शिव और निराश मदन की यह स्थिति है ठीक तभी रूपगर्विणी उमा मदन को धिक्कारती-सी

यौवन से उन्मत्त सखियों सहित प्रवेश करती है, और मदन जो उसे देखता है तो सहसा उसे अपने कार्य की सिद्धि में विश्वास हो आता है—स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे—और वह अपने गिरे हुए धनुष-बाण उठा लेता है।

उमा पूजा के फूल समाधिस्थ शिव के चरणों में रख देती है जिन्हें 'प्रतिग्रहीत' शिव साभार स्वीकार करते हैं। मदन मौका देख धनुष पर संमोहन नामक बाण चढ़ाता है और डोरी को कान तक खींच योगिराज के हृदय को लक्ष्य बना बेध देता है। योगिराज का धैर्य तनिक विलुप्त हो जाता है और जैसे उदित होते चंद्रमा को देख अंबुराशि सागर चलायमान हो उठता है वैसे ही उनके नेत्र भी नासाग्र से हटकर उमा के बिंबाधरों पर जा लगते हैं—

उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।

न केवल शिव के नेत्र कदंब के फूल से पुलकित तनवाली नारी के लाल भरे होठों की ओर मात्र आकृष्ट हुए बल्कि उनका मधुर स्पर्श पा वे वहीं रम रहे—'व्यापारयामास'—देर तक जैसे उन पर फिरते रहे। शिव का यह व्यापार, योगिराज का यह अधैर्य, रूपगर्विता नारी से छिपा न रह सका। उसने जाना, जैसे मदन ने भी जाना, कि रूप का तीर निशाने पर अचूक बैठा है, और नारी ने अपनी सफलता को दोहरी शक्ति दी और चाहा कि उसका आक्रान्त शिकार शिकंजे में और भी कस जाय। सो उसने वह आचरण किया जो तारुण्य के रूपाहंकार का अभिमत इष्ट है—

साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन।

उमा मुख को तिरछा कर, उसे चारुतर बना, खड़ी हुई और आँखों को कानों तक फैला उसने शिव को देखा। निश्चय यह 'डोरा डालने' वाली बात हुई। एक तो तारुण्य, जब, कहते हैं, 'कुक्कुटी भी सुन्दर होती है', दूसरे उमा का तारुण्य, उमा का असाधारण मदिर रूप, अनाघ्रातं पुष्पं, वसंत और मदन का सहाय्य—इतना ही कुछ कम 'चारु' न था, चाहे लक्ष्य में

योगिराज शिव ही क्यों न रहे हों, पर उमा ने उस 'चारु' मात्र से संतुष्ट न रहकर अपने उस रूप को 'चारुतर' किया—'चारुतरेण तस्थौ'—एक विशेष भावभंगी से सिर को तिरछा कर आँखों को कानों तक खींच उसने उस शिव पर उपान्तों द्वारा गहरा कटाक्ष किया जिसकी आँखें लगातार उसके होठों पर फिरती जा रही थीं और जिसकी योगनिद्रा पर रूप का जादू चलकर हावी हो चला था।

पर सहसा शिव का विवेक लौटा और उसने जाना कि जिस रूप से उसका धीरज छूट चला है, अन्तर विचलित हो उठा है, वह मात्र रूप है, तपसाजनित दाम्पत्यसाधक आकर्षण नहीं, और अपनी दुर्बलता से क्षुब्ध यह देखने के लिए कि ऐसा हुआ क्यों, उसने अपना तीसरा नेत्र खोल दूर दिशाओं तक उसके प्रकाश में देखा। दृष्टिपथ में नमेरु की शाखाओं पर बैठे धनुष-चक्रीकृत किये मदन की काया आ अटकी। फिर तो त्र्यम्बक के उस नेत्र से जो आग की लपटें निकलीं उनसे मदन का शरीर जलकर भस्म हो गया। आसमान में ठसे देवता तारकासुर के वध के निमित्त अपने ब्रह्मा के सुझाये एकमात्र साधन काम को नष्ट होते देख लाख चिल्लाते रहे—रोको, प्रभो, रोको अपना यह क्रोध !—पर वह क्रोध न रुक सका मदन को क्षार करके ही विरत हुआ, उसको भस्मावशेष करके ही तीसरे नेत्र की लपटें लौटीं।

कवि की यह वाणी, जो बाद में शिव ने कही, अब सार्थक हुई—

> यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः

निश्चय सच है कि रूप पापवृत्ति के लिए नहीं है, उससे आचार का अभ्युदय होता है, नाश नहीं होता। जिस रूप का उमा ने व्यवहार किया था वह मात्र रूप का व्यवहार था, रूप के गर्व का व्यवहार, और वह स्वाभाविक ही असफल रहा। इसीसे उसने रूप की निन्दा की —

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।

बाद जब उमा ने 'पापवृत्तये न रूपम्' का वास्तविक रहस्य समझ लिया और दाम्पत्य की अभ्यर्थना से महर्षियों को भी लज्जित कर देनेवाले तप से वह सतवती हुई तब शिव ने भी आत्मसमर्पण कर दिया और उनके मुख से सहसा निकल ही पड़ा

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः—

आज से, हे अवनतांगि, तुम्हारा मैं ज़रख़रीद गुलाम हुआ।

८

शिव की एक साँझ, एक रात

वह शिव की सांझ थी, कुमारसम्भव की रात। कुछ ही काल पहले देवताओं का अर्थ साधता मदन शिव की आँखों में प्यार के लाल डोरे डाल स्वयं भस्म हो चुका था, वही पार्वती के तप से फिर जी उठा था, और प्यार के मारे शिव पार्वती को लिए हिमाचल की चोटी-चोटी विहर रहे थे।

तभी दयितासखा शंकर पार्थिव-अपार्थिव सुख लूट भवानी के संग अविराम डोलते सूर्य के लोहायित होते सांझ समय गन्ध-मादन के वन में घुसे। भास्कर नेत्रगम्य थे, नंगी आँखों सहे जा सकने योग्य, उनके सहस्रकरों से बरसते स्वर्ण से शिलाएँ कांचनी हो रही थीं। ऐसी ही एक शिला पर बैठे शिव बाएँ बाजू बैठी पार्वती से सूर्य की ओर हाथ उठा कर बोले—

प्रिये, वह देखो, सामने सूर्य डूब रहा है—दिनमणि तुम्हारे नयनों के कोरों की अरुणाई प्राप्त कर प्रलय काल जगत् को लीलते ब्रह्मा की भाँति स्वयं दिन को निगले जा रहा है। और विवस्वान के अस्ताचल की ओर झुक जाने से निर्झरों के गिरते जलकणों से जो किरनों की आभा हट गई है तो तुम्हारे पिता हिमालय के इन प्रपातों से इन्द्रधनु का परिकर भी हट गया है।

और देखो, उधर उन चकवे-चकवियों को ! टूटे कमलस्रज धारण किए कण्ठ, एक-दूसरे पर सर्वथा अवलंबित रहनेवाले जोड़े वियोगग्रस्त हो रहे हैं और सरोवर मात्र की बीच की दूरी अलंघ्य हुई जा रही है ! उन गजों को देखो जो दिन भर सल्लकी तरु की टूटी शाखाओं के दूध से गमकती भूमि पर बैठे रहे हैं, अब उसे छोड़ सरोवर में प्रवेश कर चुके हैं और सांध्य क्रिया में चढ़ाने के लिए भ्रमरबद्ध कमलोंभरा जल ले रहे हैं।

मितभाषिणि, तनिक देखना, सरोवर की काँपती लहरियों की ओर—पश्चिम दिशावलम्बी सूर्य ने अपनी सहस्रधा विभक्त प्रतिमाओं-प्रतिबिंबों से कंचन का सेतु बाँध दिया है। प्रिये, इस वृक्ष पर बसेरा करनेवाला कनकरसवत पीत मण्डलवाला यह मयूर सन्ध्याकाल निरन्तर छीजती जाती धूप को पिये जा रहा है।

आकाश से सूर्य ने जो अपनी धूप खींच ली है तो वह अल्पायित जलवाले सूखे सरोवर-सा लग रहा है। उस आकाश के पूर्व भाग में, सूर्य के पश्चिम होने के कारण, जो तिमिर का पुंज दिखने लगा है, वह, लगता है, जैसे तालाब का इकट्ठा हुआ कीच है !

दिन-भर की खिली कमलिनी अब बद्धकोश (बन्द) हो रही है, पर संपुट होती हुई भी अपने प्रिय भ्रमर के प्रति जागरूक—उत्कंठित है—अपना मुखविवर क्षण भर खुला रख छोड़ती है जिससे बाहर भटक रहे अपने भौंरे को वह प्रीतिपूर्वक भीतर बुला सके। (द्वारे मँडराते जार के प्रवेश के लिए उसके किवाड़ अधखुले हैं।)

दूर पश्चिम में सूरज डूब रहा है, सामने उसकी किरनों की जो वह लाल रेखा दिख रही है, उससे वह वरुण की दिशा कन्या-सी बन गई है। लगता है, जैसे उसने केसरमंडित बन्धुजीव फूल का तिलक लगा लिया हो।

किरणों की ऊष्मा पीनेवाले सहस्रों बालखिल्यादि ऋषि रथाश्वों को मधुर लगनेवाले सामगान द्वारा अग्नि को समर्पित

तेजवाले सूर्य की वन्दना करने लगे हैं । सूर्य दिन का भार उठाये आकाश को लाँघ चुका है । मार्ग दोनों के लिए कठिन था, सूर्य के लिए भी, उसके घोड़ों के लिए भी । अब उस दिन को समुद्र में डाल उसने साँस ली है, अपने घोड़ों का भार भी हल्का किया है । और घोड़े ? वह देखो, कान के चँवरों से छुपी आँखें मिच-मिचा रही हैं, दिन भर कन्धों पर रखे जुए से घोड़ों के अयाल मसल गए हैं, गरदनें झुक गई हैं । उन घोड़ों को विश्राम दे उनका स्वामी सूर्य स्वयं भी अस्त हो गया है ।

और अब सूर्य के डूब जाने पर, वह देखो, लतिके, आकाश जैसे एकाएक गहरी नींद में सो गया है । तेजवानों के जीवन की बस यही प्रक्रिया है—जब तक जहाँ तक उनका उदय रहा तब तक वहाँ तक तो उनका प्रकाश फैला, पर जैसे ही वे वहाँ से हटे कि उनका प्रकाश भी गया, अन्धकार फैला, दिशाओं को उसने समेट लिया ।

इस प्रकार सूर्य के पूज्य शरीर के अस्ताचल समर्पित हो जाने पर साध्वी सन्ध्या ने भी उसका अनुगमन किया, सती है । कारण कि जब सूर्य उदयकाल उसे आगे कर सम्मानित करता है तब भला अस्तकाल (विपद् में) वह स्वयं सूर्य की अनुगामिनी क्यों न बने ?

तनिक उधर देखो, कुंतलोंवाली पार्वती—

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सन्ध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधु मण्डिताः।।

सामने वो लाल-पीले-भूरे मेघखण्ड फैले हुए हैं । लगता है, यह जानकर कि तुम इन्हें देखोगी, सन्ध्या ने इन्हें तूलिका से अनेक रंगों में सुन्दर रँग दिया है । देखो हिमालय के सिंहों के सटों को, इन पल्लवधारी तरुओं, इन धातुमयी चोटियों को, सारी लाल हैं—डूबते सूरज ने अपनी साँझ की धूप इन्हें बाँट दी है ।

देखो, पार्वति, एक ओर से बढ़ते आते अन्धकार से पीड़ित सन्ध्या इस काल कुछ ऐसी लग रही है जैसे गेरु की नदी के एक

तट पर तमाल तरुओं की श्यामल माला खड़ी हो। दूसरी ओर डूबते सूर्य की किरणों की लाली अभी कुछ बच रही है। उस साँझ की धूपायित लाल रेखा से प्रतीची दिशा का छोर ऐसा लगता है जैसे रणभूमि में चलाई लहूभरी तलवार की कौंध गोल तिरछी घूम गई है।

फिर सहसा रात आ जाती है।

देखो न, दीर्घनयने, रात और दिन की सन्धि इस साँझ के तेज के सुमेरु के पीछे डूब जाने से यह गाढ़ा अन्धकार निरंकुश होकर दिशाओं पर छाया, पसरता चला जा रहा है। तिमिर की निबिड़ता से न तो कुछ ऊपर दिखाई देता है न नीचे, न आगे न पीछे, न चारों ओर ! रात के आ जाने से सारा चराचर तम से उसी प्रकार घिर गया है जिस प्रकार गर्भ की झिल्ली से शिशु।

निर्मल और मलिन, अचर और चर, कुटिल और सरल गुणोंवाला जितना भी संसार है वह सारा अन्धकार द्वारा आच्छन्न होकर समीकृत हो गया है, विरोधी गुणों में कोई अंतर नहीं रहा।

कमलमुखि, पर देखो, असत् के महत्व को नष्ट करने के लिए रजनी के अन्धकार को मेटने के लिए सतों (ब्राह्मणों) के स्वामी चन्द्रमा उदित हो रहे हैं, सो उधर प्राची दिशा का मुख केतकी की उज्ज्वल धूलि से जैसे व्याप्त हो उठा है।

(तब आकाश में गगनविहारी उग आता है, चारों ओर चाँदनी छिटक जाती है। रजनी जैसे नायिका बन जाती है और चन्द्रमा उसके साथ विलास करने लगता है।)

देखो पार्वति, अपनी किरण रूपी उंगलियों से तमरूपी केश-राशि को सम्हाल कर, एक-एक कर (किरण) से एक-एक बाल भले प्रकार मुखमण्डल से हटाकर चन्द्रमा रजनी के मुख को चूम रहा है। उस चुम्बन के स्पर्श से पुलकित निशा ने अपने सरोज-लोचन सम्पुट, मुकुलवत, कर लिये हैं—

अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीय रजनीमुखं शशी ।।

पार्वति, देखो उधर उस नये चन्द्रमा के उगने से सघन अन्धकार के छंट जाने से निर्मल नीले आकाश को—जैसे गजों की क्रीड़ा से मलिन जलवाला मानसरोवर कुछ काल बाद निर्मल नील हो गया हो ! और अब तो, देखो न, उस चन्द्रमा ने भी आरम्भ का अपना रक्ताभ रूप छोड़ स्वच्छ श्वेत मण्डल धारण कर लिया है। क्योंकि निर्मल स्वभाव वालों में विकार केवल काल दोष से होता है, अल्पकालिक मात्र, स्थायी नहीं।

चन्द्र की रश्मियों के प्रभाव से जनित चन्द्रिका के धवल विन्दुओं से गिरि ने नीचे अपनी मेखला के तरुओं पर निद्रित मयूरों को असमय ही जगा दिया है। देखो, सुन्दरि, उन कल्प-तरुओं के शिखरों पर जो चन्द्रकिरणों का प्रस्फुरण हो रहा है, लगता है कि शशि उन पर हारयष्टि (हार) गूँथने के उपक्रम करने आ पहुँचा है—चाँदनी और छाया का जो तरुपत्रों में उहा-पोह हो गया है तो जान पड़ता है मानो नीलपट्ट के सूत्र (धागे) में विरल मुक्ताएँ पिरोयी जा रही हैं।

सामने देखो, पर्वतमाला की ऊँची-नीची भूमि पर चाँदनी और अन्धकार जो साथ-साथ फैले हैं तो लगता है कि हाथियों की श्याम पृष्ठभूमि पर श्वेत चन्दनादि से चित्र रचना (भक्ति-चित्रण, विशेषक) कर दी गयी है। कल्पतरु की फुनगियों पर लम्बायमान पड़ी श्वेत चाँदनी से (दोनों की सफ़ेदी से एका-कार हो जाने से) जो रूप के स्पष्ट व्यक्त होने में संशय उत्पन्न हो गया है उसे वेग से बहता हुआ पवन बलपूर्वक उघाड़कर प्रगट कर देता है, सो देखो, चण्डिके।

प्रिये, पत्रों से छनकर चाँदनी जो तरुओं के नीचे टूक-टूक पड़ी है, टपके कमनीय कुसुमों-सी लगती हैं जिनसे तुम्हारे ये श्याम कुन्तल गूंथे जा सकते हैं। और तुम जो न देख सकोगी वह मैं देख रहा हूँ—खण्डित सरकण्डे के-से श्वेत और स्वाभाविक

प्रसन्न तुम्हारे गण्डास्थलों पर चन्द्रबिम्ब द्वारा तुम्हारी आँखों में डाली यह चाँदनी अब चढ़ चली है, छिटक चली है।

और देखो, तुम्हें यहाँ आयी जान कर गन्धमादन के देवता सूर्यकान्त मणि के लाल चषक में कल्पतरु की हाला लिए स्वयं उपस्थित हैं। हाँ, विलासिनि, वैसे जानता हूँ, तुम्हारा मुख स्वाभाविक ही आर्द्र केसर की गन्ध से सुवासित है, तुम्हारे मद-भरे लाल डोरे धारे नयन स्वाभाविक ही मदमाते हैं, सो भला तुम्हें बसी मदिरा की आवश्यकता ही क्या ? फिर भी मदन-दीपन इस वारुणी को चखो—ऐसा कहकर शंकर ने अपनी प्रिया उस अम्बिका को मदिरा पिला दी।

और तब वह अम्बिका विशेष प्रक्रिया से बनी उस वारुणी को पी थोड़ा मद कर अपनी चेष्टाओं में विकार को प्राप्त हो और भी मनहर लगने लगी। और तभी वह सुवदना पार्वती उस पान के प्रभाव से लज्जा का आवरण हट जाने से जगी हुई कामना के कारण अनायास मद्य और शिव दोनों के वशीभूत हो गयी। फिर तो घूर्णित नयनोंवाले, अटपट बोलनेवाले, मदिर मुस्कराते स्वेद बिन्दुओं से भरे उमा के मुख को शिव, मुँह से तो क्या, अपने नयनों से देर तक पीते रहे, अपलक निहारते रहे।

फिर ध्यानमात्र से उपभोग की सहायक संपदा प्रस्तुत कर देनेवाले समर्थ शंकर ने लम्बी कांचनी तागड़ी तथा जघनों के बोझ से भारी उस पार्वती को उठा कर संगमरमर की गुहा में प्रवेश किया।

९

काम और कालिदास

समूचे आर्य परिवार की संस्कृतियों में कामदेव की कल्पना अमूर्त से भिन्न शरीरी के रूप में की गई है। वह भौतिकों और मर्त्यों की भाँति जनमता और मरता है, यद्यपि मरकर वह मिट नहीं जाता, निर्जीव स्थिति से जीवन में फिर लौटता है और जीवों के जनन-व्यापार का साधक होता है। 'अशरीरी' वह कहा गया है, संभवतः इसीसे भारतीय मूर्ति-संपदा में उसका रूपायन प्रायः नहीं हुआ। अबतक जहाँ तक मुझे ज्ञात है कामदेव की एक ही मूर्ति मिट्टी के ठीकरे पर उभारी हुई मथुरा में मिली है। ठीकरा कुषाणकालीन है, पहली सदी ईसवी का, जिसपर पंचबाण मदन अपने पाँचों बाण लिये धोती पहने खड़ा है। काल की क्रूरता से काम का मस्तक खो गया है, पर जो कुछ बच रहा है वह स्वयं प्रायः दो हज़ार वर्ष पहले की हमारी कंदर्प संबंधी भावना को मूर्त करता है।

काम का साधारण अर्थ तृष्णा है पर भारतीय विश्वास और साहित्यिक परम्परा ने उसे देवता का पद दिया है। देवता ऐसा जो व्यक्ति को कमनीय वासना और विषयों की ओर आकृष्ट करता है। आसक्ति का संयोग उसीके संयोग से होता है, इसी

से धर्म में भी उसकी बड़ी महिमा है। उसकी गणना भी स्वर्ग के देवों में है, देवराज इन्द्र का वह सहचर है। देवताओं को बार-बार अपने अर्थसाधन के लिए उसकी सहायता लेनी पड़ती है। प्रजा की उत्पत्ति के लिए कामना और मोह का होना आवश्यक है, इससे कामदेव कल्याणकर भी है, वरना शिव ही उमा को ब्याह कुमार को उत्पन्न कैसे करते ? तारकासुर का संहार कैसे होता ? पर हाँ, उसकी अति सेवा भी मारक होती है। उसीके योग से कार्य करनेवाले अतीन्द्रिय प्रनष्ट हो जाते हैं। इसीसे बौद्ध धर्म में बुद्ध द्वारा मार (कामदेव)-विजय की बड़ी महिमा मानी गयी है। बुद्ध के प्रारंभिक जीवन के हर मोड़ पर वह उनसे आ मिलता है।

कालिदास की रचनाओं में तो वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से पग-पग पर उल्लेख पाता है, रस के आरंभ, प्रवाह और परिणति में सर्वत्र उसका प्रभुत्व है, पर 'कुमारसंभव' के तीसरे और चौथे सर्गों में विशेष रूप से उसका वर्णन हुआ है। तीसरे में शिव पर उसका मदिर आक्रमण और विध्वंस है, चौथे में उसके शव पर उसकी पत्नी रति का विलाप है। शिव भी बुद्ध की ही भाँति काम को भस्म कर देते हैं। पर यह तो 'युक्ताहारविहार' की परम्परा बाँधनेवाले शुचिकर स्मार्त मार्ग का निदर्शन मात्र है, वरना मदन क्या कभी मरता है ? मर सकता है ? शिव ने उसका दहन कर उसे अनंग कर दिया, पर 'अशरीरी' तो वह सदा से ही रहा है। मन में पैठकर वह उसे मथता रहता है जिससे उसका एक नाम 'मन्मथ' भी पड़ा है। काम शृंगार का परम पोष्य है, इष्ट और शृंगार-साधना में उसीका साका चलता है। संस्कृत साहित्य काम की स्तुति से भरा पड़ा है। धार्मिक साहित्य तक में इन्द्र द्वारा ऋषियों-राजाओं के तप के नाश का प्रयास काम द्वारा ही होता है। स्वयं कालिदास ने असंख्य बार अपने छोटे-बड़े प्रसंगों में उसका स्मरण किया है। एक स्थल पर तो कवि का वर्णन इतना मार्मिक, इतना हृदयग्राही, इतना असाधारण

वन पड़ा है कि उसका सानी संसार के साहित्य में कहीं नहीं मिलता। शाकुन्तल में जब शकुन्तला के चले जाने पर दुष्यन्त विह्वल हो उठता है तब काम बौराये आमों की मंजरियों, कुरबकों की कलियों, कोयलों की अपनी सेना लिये शिशिर के अन्त और वसन्त के आरम्भ में राजा के प्रमदवन में आता है तब उसके विषाद से डर कर वह स्वयं किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है—

चूतनां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शंके संहरति स्मरोपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥

आम कबसे बौरा चले हैं पर उनकी मंजरियाँ सहसा पराग की रज नहीं बाँध पातीं, कुरबक तैयार खड़े हैं पर उनकी चिटकती कलियों के मुँह सहसा खुलते-खुलते बंद हो जाते हैं, शिशिर की समाप्ति पर नरकोयल के कण्ठ स्वाभाविक ही कूक उठते हैं पर कंठ में फूटे पड़ते स्वर भी उसके यकायक रुक जाते हैं, उधर चराचर पर अपना बाण छोड़ने के लिए आकर्ण धनुष की ज्या के उपक्रम करता तरकश से बाण निकालता काम सहसा चकित हो सुन्न हो जाता है। उसने दुष्यन्त को विपन्न देख लिया है। आर्द्र चकित भीत काम तूणीर से आधे खिंचे तीर को तूणीर में लौटा देता है।

कुमारसंभव के तीसरे सर्ग की एकाध झलक इस प्रकार है: तारकासुर के उपद्रवों से आर्त देवताओं को जब ब्रह्मा कुमार के जनन के लिए शिव और उमा के विवाह के प्रयत्न करने को उत्साहित करते हैं तब इन्द्र के स्मरण से उसका अर्थसाधक काम उसके पास करबद्ध आ खड़ा होता है—

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृंग
रतिवलयपदांके चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूतांकुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्रांजलिः पुष्पधन्वा ॥

—कु० २, ६४

संसार के सभी साहित्यों ने कामदेव को रूप और अस्त्र दिये हैं पर संस्कृत की परम्परा ने जैसी उसे वेशभूषा दी है वह अनूठी है, नितान्त मृदु, पर नितांत प्राणहर भी। वह राजा है, वसन्त उसका सखा है, कोयल उसके वैतालिक हैं, संदेशवाही चारण। कमल या ईख उसके धनुष की डंडी है, उस धनुष की डोरी भौंरों की पाँत है, समूचा धनुष ही उसका फूलों से बना है जिससे उसका 'पुष्पधन्वा' नाम सार्थक होता है। पाँच कल्पतरुओं के फूल उसके बाण हैं जिससे वह 'पंचसायक' भी कहलाता है। ब्रह्मा की सलाह मान उसी कंदर्प को इन्द्र ने शिव पर उसका जादू डालने के लिये बुलाया। और वह काम जो युवतियों की भौंहों के समान सुन्दर धनुष धारण करता है, उस धनुष को अपनी पत्नी रति के कंगन से चिह्नित गले में लटकाये अपने मित्र वसन्त के कर में अनेक बौरों के अस्त्र रक्खे इन्द्र के स्मरण करते ही हाथ जोड़े आ पहुँचा। इन्द्र के "आओ, यहाँ बैठो," कहकर पास बिठा लेने पर उसने इन्द्र की कृपा का उत्तर दिया। फिर उनके गोपनीय कार्यों का साधक होने से रहस्यमयी वाणी में उनसे संवाद करने लगा। उसने पूछा—

> आज्ञापय ज्ञातविशेष पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति।
> अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितुमाज्ञया ते॥—कु० ३, ३

आज्ञा करो, सर्वज्ञ, करणीय कहो। बताओ, तीनों लोकों में तुम्हें क्या अभीष्ट है ? मुझे याद कर मुझ पर जो अनुग्रह किया है मैं उसे तुम्हारा करणीय संपादन कर और बढ़ाना चाहता हूँ।

> केनाभ्यसूया पदकांक्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः।
> यावद् भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती॥

कौन है वह जन जिसने नितांत दीर्घ तप द्वारा इन्द्रपद की कामना कर तुम्हारे मन में ईर्ष्या उत्पन्न कर दी है ? बता दो, फिर इस चढ़े धनुष से उसे जीत तुम्हारा आज्ञाकारी बना दूँ।

> असंमतः कस्तव मुक्तिमार्ग पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः।
> बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः॥

कौन है भला तुम्हारा वह शत्रु जो पुनर्जन्म के भय से मुक्ति मार्ग की साधना करने लगा है ? बताओ कि मैं उसे भ्रू विलास में निपुण सुन्दरियों के कटाक्षों से चिरकाल के लिए बाँध दूं ।

अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते ।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥

ऐसा तुम्हारा शत्रु चाहे शुक्राचार्य से ही नीति पढ़कर क्यों न आया हो मैं आसक्ति रूपी दूत भेज उसके अर्थ और धर्म का नाश कर दूंगा, जैसे नदी की धारा तटों को बहा ले जाती है । बस कह भर दो कि तुम्हारा वह शत्रु है कौन ।

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥

या किसी कठिन सती धर्म को निभानेवाली पतिव्रता में तो तुम्हारा चंचल मन नहीं रम गया ? यदि ऐसी नितंबिनी की इच्छा हो तो, बोलो, ऐसे डोरे डालूं कि वह लज्जा तज कर स्वयं अपनी भुजाएँ तुम्हारे कंठ में डाल दे ।

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः ।
तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥

हे कामी, कौन है वह नारी जो आपसे सुरत न पाकर खीझ बैठी है और पैरों पर तुम्हारे सिर रखने से भी मान नहीं छोड़ती ? बताओ तो उसके मन में ऐसा पछतावा भरूँ कि वह शीघ्र तुम्हारी कोमल पत्रशैया की शरण आ जाय ।

प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्यः ॥

प्रसन्न हो, वीर, विश्राम दो अपने वज्र को । मुझे बस बता दो कि वह कौन असुर है जो मेरे बाणों से इतना वीर्यहीन हो जाना चाहता है कि उसे कोप से फड़फड़ाते होठोंवाली नारी तक डरा दे, कि वह सर्वदा दीन हो जाय ?

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥

तुम्हारी कृपा से, मेरे सखे, मैं अपने कुसुमबाणों मात्र से केवल सखा वसन्त को साथ लेकर पिनाकधारी स्वयं शिव का धैर्य छुड़ा सकता हूँ, और धनुर्धरों की तो बात ही क्या है ?

इन्द्र ब्रह्मा की बतायी बात उससे कहता है और काम उमा के प्रति शिव को अनुरक्त करने के लिए उस योगिराज के तपोवन में डेरा डाल देता है। वनस्थली में शिव समाधि लगाये वीरासन में बैठे हैं। शरीर के नवों द्वारों को बन्द कर वह महायोगी भीतर के पवनों को रोक निर्वात दीप की लौ की भाँति निश्चल है। और उनके लतागृह के द्वार पर उनका प्रिय नन्दी सन्त्रीवत् खड़ा होठों पर उंगली रखे गणों को शान्त रहने का आदेश दे रहा है—

दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे ।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ।।

सामने शुक्रग्रह की दृष्टि बचा जानेवाले यात्री की तरह नन्दी की दृष्टि बचा कर नमेरु की शाखाओं से ढके ध्यानस्थ शिव के उस स्थान पर काम छिप कर बैठा। सहसा जो वनस्थली में काम का प्रवेश हुआ तो वह वसन्त के फूलों से भर उठी, चराचर मद में विभोर हो वसन्तोचित क्रीड़ा करने लगा। पर शिव की समाधि, जैसे अखंड है। उसमें विघ्न नहीं पड़ता। कन्दर्प पास ही नमेरु वृक्ष पर आसन जमाये चुपचाप देख रहा है। पर जो वह मन से भी अधृष्य उस शिव का तेज देखता है तो सुन्न हो जाता है। उसका धनुष हाथ से सरक कर गिर जाता है, और उसकी ऐसी दयनीय वेसुध दशा हो जाती है कि अपने धनुष-बाण का भूमि पर गिर पड़ना भी वह नहीं जान पाता।

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः ग्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ।।

पर शीघ्र ही उसकी मोह से रक्षा होती है—उसी समय पार्वती वसन्त के पुष्पाभरणों से सजी शिव के दर्शन को आती है। उसके अनिन्द्य रति को भी लजा देनेवाले रूप को देख कामदेव के मन में फिर जितेन्द्रिय शंकर पर प्रहार कर सकने और देवकार्य संपन्न

होने की आशा जग उठती है। और वह सरका हुआ धनुष धीरे-धीरे उठा लेता है—

तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे॥

उमा शिव को प्रणाम कर आशीर्वाद पाती है। अब काम फतिंगे की भाँति अग्नि में जल मरने की इच्छा से जैसे धनुष को चढ़ा लेता है। पार्वती मन्दाकिनी में उगनेवाले पद्मों के बीजों की माला शिव को समर्पित करती है। अवसर आया जान काम अपने धनुष पर संमोहन नाम का अमोघ बाण चढ़ा लेता है फिर तो जैसे चन्द्रमा के उदय होने से समुद्र में हलचल मच जाती है वैसे ही शिव का धैर्य भी तनिक छूट चलता है। वे उमा के कुदरुन के-से लाल होठोंवाले मुख पर अपनी आँखें गड़ा देते हैं। मन में कामना जग उठती है। उधर उमा के मन में भी वैसे ही भावों का उदय होता है। कदम्बफल के-से अपने पुलकित तन से वह प्रफुल्लित भावभंगियाँ प्रदर्शित करती है। स्वभाव से ही सुन्दर लजीले लोचनों को और भी सुन्दर कर, मुँह को ज़रा तिरछा कर कटाक्ष की मुद्रा में खड़ी होती है। इसी बीच सफल इन्द्रियवशी होने के कारण अपने को संभाल कर शंकर अपनी अस्थिरता का कारण जानने के लिए दिशाओं में दूर तक जो दृष्टि फेंकते हैं—

अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्॥

तो देखते क्या हैं—

स दक्षिणापांगनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुंचितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥

कि दाहिनी आँख की कोर तक मुट्ठी से धनुष की डोरी खींचे हुए, दाहिना कंधा झुकाये, बायाँ पैर मोड़े, धनुष को चक्राकार (गोला) किये काम उनपर बाण छोड़ने ही वाला है।

फिर क्या होना था, फिर तो तप में विघ्न पड़ने से, आचार से किंचित्प्राय स्खलित होने से, शिव का क्रोध भड़क उठा। चढ़ी

भौंहों के बीच उनका तीसरा नेत्र सहसा ही खुल पड़ा और उससे लपटें निकलने लगीं—

तपः परामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभंगदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥

फिर तो गज़ब हो गया, प्रलय मच गयी, लगा कि चराचर जल उठेगा। और अभी आकाश में देवताओं की आवाज़ गूँज ही रही थी—"क्रोध रोको प्रभो, क्रोध रोको—" शिव के तीसरे नेत्र से निकली उन लपटों ने मदन को जला कर भस्म कर डाला—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥

पर मदन, दहन के बावजूद भी मरा नहीं। मदन कभी मरता नहीं, मर नहीं सकता। जीवन की संज्ञा है वह, उसका आधार, कामना का सर्वस्व। अनन्त-अनन्त रुद्रों की कोपाग्नि वह अपने उपहास से बुझा देता है, और फिर फिर अवधूतों के चिता-धूम से दूर जीवितों के संसार को अपने अक्षय हास की कोमल शरच्चन्द्र मरीचियों से नित नयी काम्य सम्पदाओं से भरता रहता है। उसके संचरण से मानुस की आस मरने नहीं पाती, स्नेह की बाती छिन-छिन जलती है पर चुकती नहीं। मोह के पंजर में डोलती आकुल छाया पर काम अपनी किरणों से कंचन का पट बुन चलता है।

१०

कालिदास और शिष्ट आचरण

समाज के व्यक्तियों के पारस्परिक शिष्टाचार से उसकी सांस्कृतिक प्रगति का परिचय मिलता है। सौजन्य जीवन के समाज-गत व्यवहार का मापदण्ड है। सभ्यता अपने अन्तिम विश्लेषण और प्राथमिक स्थिति में, सभा में बैठने की तमीज़ है और सभा में बैठने की तमीज सभ्य को उस स्थिति का ज्ञान कराती है जिसमें वही अकेला नहीं अनेक हैं और इस बात का कि वह अपने से भिन्न उन अनेकों से कैसा व्यवहार-व्यापार करे। जिस समाज में जिस मात्रा में व्यावहारिक शिष्टता, धैर्य और शान्ति होती है वह उसी मात्रा में सभ्य और संस्कृत समझा जाता है। सामाजिक व्यवहार में प्रेम, घृणा, मान, अभिमान, क्रोध, शिष्टता, सभी होते हैं। कालिदास के समाज में भी वे थे और उस कवि ने उनका आचरणगत वर्णन भी भरपूर किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस आचरण का कवि द्वारा प्रतिबिम्बन अधिकतर स्वयं कवि के व्यक्तिगत आचार पर निर्भर करता है, परन्तु उसके स्वयं भी सावधि समाज का प्रतिबिम्ब होने से परिणामतः उसका स्वरूप एक अर्थ में अपने समाज को ही प्रतिबिम्बित करता है। कालिदास मधुर शिष्ट होने के कारण सामाजिक औचित्य के विधायक-प्रसारक हैं और अपने काव्यों-नाटकों की अनन्त

सामाजिक परिस्थितियों में उन्होंने समाज के बहुमुखी व्यवहार और उसके भाव-व्यापार का प्रत्यक्ष विन्यास किया है, पर यहाँ केवल संकेत रूप से ही उनके उन व्यापार-व्यवहार सूत्रों का उद्‌घाटन संभव हो सकेगा। अस्तु।

संस्कृति स्वाभाविक नहीं रूढ़ीभूत कृत्रिमता है जिसकी भित्ति-शिला औपचारिकता है। वह संस्कारजन्य है और व्यक्ति के आन्तरिक मनोभावों से कहीं अधिक उसके समाज में सीखे और व्यवहृत उपचारों पर आश्रित होती है। संभाषण मात्र से व्यक्तियों में परस्पर संबंध स्थापित होते हैं (सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः, रघु०, २,५८)। सज्जनों की परस्पर मित्रता, ऐसा मनीषियों ने कहा है, सात शब्द बोलने (या साथ-साथ सात पग चलने) मात्र से हो जाती है (सतां संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते। कुमार० ५,३९)। इस शब्द अथवा गति-व्यापार से व्यवस्थित समाज का अवतरण होता है तथा उच्चावच स्थितियों का बोध भी।

समाज की उच्चावच स्थितियों को वर्णाश्रम धर्म के अनुयायी होने से कालिदास स्वीकार करते हैं। समाज में वर्ण, वय आदि के अनुसार, परिवार में नर-नारी, बड़े-छोटे होने के अनुसार वे उनके सम्बन्धों का उल्लेख करते हैं। यद्यपि, परम्परा से भिन्न यह कवि विशेष स्थितियों में वय और स्त्री-पुरुष के भेद का तिरस्कार भी कर देता है, मनीषियों के विवेक के अनुकूल, जिसमें पूजा के कारण गुण होते हैं, न वय न लिंग—गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः। कालिदास के इष्ट देव स्वयं शिव सप्तर्षियों के आने पर उनके साथ ही वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती की भी यह मान कर मुनिवत् पूजा करते हैं, उनमें भेदभाव नहीं करते, कि सज्जनों में चरित्र ही पूजनीय होता है, लिंग तथ्य नहीं। स्त्री विशेषतः इससे भी पूजनीया है कि धार्मिकों की धर्म-क्रियाओं की मूल प्रेरिका और कारण वही होती है। इसीसे अरुन्धती को देखते ही शिव में पत्नी के प्रति आदर के भाव का उदय हो आता है—

तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥
तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः ।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यों मूलकारणम् ॥
(कुमार०, ६,१२-१३)

वय के संबंध में तो कवि ने स्पष्ट ही कहा है—न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते (वही, ५, १६)—धर्माचरण में जो महान् हैं उनकी आयु नहीं देखी जाती, आयु द्वारा उनकी महत्ता नहीं मापी जाती। फिर भी एकांश में वय और लिंग दोनों सामाजिक आदर और उपेक्षा के आधार रहे हैं। उसी आधार से उनके परस्पर आचरण की व्यवस्था भी हुई है। कवि के काव्यों में वह आचरण स्पष्ट उदाहृत है। उनमें छोटे बड़ों के प्रति आदरसूचक नमन करते हैं जिसको 'प्रणामक्रिया' (रघु०, ६,२५) कहा गया है। बड़ों के प्रति नतमस्तक होते छोटे 'प्रणाम' (वही, १४; १३, ६०; १५, १४; कुमार०, ३, ६२), 'वन्दे' (रघु०, १३, ७२, ७७; १४, ५,७१) अथवा नमस्ते (मालवि०, पृ० ६८) शब्द का उच्चारण करते हैं। गुरु (रघु०, १, ५७), माता (वही, ११, ७, कुमार०, ७, २७) अथवा पिता (रघु०, ११, ४, ५) के चरणों पर गिर कर (प्रणिपत्य पादयोः, रघु०, ८, १२; ६, ८६; १३, ७०; १४, २, ६०, शाकु०, पृ० १४५) प्रणाम करते थे। बड़े प्रणाम के उत्तर में आशीर्वाद (रघु०, ११, ६, ३१, कुमार०, ६, ६०, विक्रमो०, पृ० १३७) देते थे जिसकी आयुष्मान् (जिओ, दीर्घायु हो !) आदि कहने की अनेक विधियाँ थीं। तापस राजा को चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करने का आशीष देता था (चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि, शाकु०, पृ० २१), शिव ने उमा के प्रणाम का उत्तर कुमारसम्भव (३, ६३) में 'सर्वथा अनुकूल पति प्राप्त करो !' (अनन्यभाजं पतिमाप्नुहि)कहकर दिया है और उसी को वधूरूप में वृद्धाओं ने 'तुम्हें पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त हो !' (अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः (वही, ७, २८) कहकर दिया है। चरणों में पड़े

हुए लक्ष्मण को उठाकर सीता आशीर्वचन कहती हैं—प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव (रघु०, १५, ५९)—प्रसन्न हुई, सौम्य, चिर जीओ ! आशीर्वाद प्राप्त करनेवाला आशीर्वाद के उत्तर में प्रतिगृहीतम् (शाकु०, पृ० २१)—अनुगृहीत हुआ—कहकर आभार प्रगट करता था। लोग ऋषि से विदा लेते समय उसकी और ऋषिपत्नी की प्रदक्षिणा करते थे (अग्नि की भी, रघु०, २, ७१)। ऋषि आदि बड़े विदा करते समय अपने कृपापात्रों का मार्ग निष्कण्टक होने की कामना करते थे (शिवास्ते पन्थानः सन्तु (शाकु०, पृ० १४८)। बड़ों से बात करते समय छोटे विनीत हो, कुछ आगे को झुककर अत्यन्त शिष्ट और संचयित शब्दों में अपनी बात कहते थे (रघु०, ५, ३२), अनुरोध अथवा याचना करते समय दोनों हाथों को जोड़ लेते थे (वही, २,६४)। गुरु और मंत्रियों के साथ चलते समय राजा गुरु को आगे और मंत्रियों को पीछे करके चलता था (रघु०, १३, ६६)। बड़ों की आज्ञा विनय के कारण तर्क का विषय नहीं बन सकती थी (आज्ञा गुरूणामविचारणीया, वही, १४,४६)। उसके औचित्य-अनौचित्य पर बिना विचार किये उसे स्वीकार करना अनिवार्य माना जाता था। विनय विशिष्ट गुण (वही, ३, ३४) माना जाता था और राजा तक अपने परिचरों आदि से कोमल वाणी में बोलता था (वही, २५)। विनय कालिदासकालीन समाज में शिक्षा का मण्डन माना जाता था, मूर्धन्य अलंकरण (वही, ९, ७९)। दो बराबरवाले जब मिलते थे तब या तो एक-दूसरे से हाथ मिलाते थे (परस्परं हस्तौ स्पृशतः, विक्रमो०, पृ० २१) या एक-दूसरे के गले लगते थे (रघु०, १३, ७३)। मेघदूत (पूर्व, ४) में विरही यक्ष मित्र मेघ का स्वागत पुष्प और अर्घ्य द्वारा करता है। दूरस्थ सम्बन्धियों को कुशल-क्षेम (योगक्षेमम्, मालवि०, पृ ६८) भेजते थे।

भारत ने अतिथि को सदा देवकल्प माना है, 'अतिथिदेवो भव' के अनुशासन में उसके प्रति देवभाव बरतना अपेक्षित है।

कालिदास ने भी अपने 'अर्चयित्वा' (रघु०, १, ५५; ५, ३; ११, ३५, कुमार०, ५, ३१, ३२) पद द्वारा उसकी पूजा का विधान किया है। अतिथि को पग धोने के लिए जल देकर वेत्रासन, भद्रासन अथवा भद्रपीठ पर विठाने का उल्लेख हुआ है। उसके इस प्रकार बैठ जाने के वाद अर्घ्य द्वारा उसका देववत् सत्कार होता था। अक्षत, मधु, दूव आदि से वना अर्घ्य देवताओं, महापुरुषों, जामाताओं आदि के आतिथ्य में प्रयुक्त होता था। राजा, ऋषि और अन्य सम्भ्रान्त व्यक्तियों को विशिष्ट अतिथि मानकर (अतिथिविशेषलाभेन) उनका सत्कार और भी विनीत हुआ करता था। पूर्व परिचित अथवा पुराने मित्र का आतिथ्य स्वागत, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पुष्पों से अंजलि भर, अर्घ्य के साथ मधुर मुखर वाणी से किया जाता था।

सामाजिक व्यवहार की शिष्टता का सूत्रवत् उल्लेख कर चुकने के वाद उच्चरित शब्द और विनीत वाणी द्वारा व्यक्तियों के परस्पर कथोपकथन पर दृष्टिपात भी आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः उसी प्रसंग में विशेषतः विनय और शिष्टता का उपयोग हुआ है।

इस प्रकार के कथोपकथनों और शालीन गिराओं की व्यापकता कवि के काव्यों में भी वड़ी है, उसके नाटकों में तो निःसन्देह अनन्त है। संवादप्रधान होने के कारण नाटकों में कथोपकथनों का स्वाभाविक ही वाहुल्य है, जिनकी ओर एक मात्र संकेत किया जा सकता है। पर काव्यों में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जो प्रगल्भ वाणी के चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। अज-विलाप, रति-विलाप, दिलीप-सिंह वार्ता, रघु-इन्द्र वार्ता, पार्वती-शिव (ब्रह्मचारी रूप में) संवाद, कुश-राज्यलक्ष्मी-संवाद, काम-इन्द्र प्रसंग, सीता-वाल्मीकि के वाकोवाक्य, नाटक में कण्व के शकुन्तला के प्रति वचन, समूचे मेघदूत की प्रवहमान शालीन मित्र के प्रति मित्र की, प्रिया के प्रति प्रिय की गिरा, उन काव्य-नाटकगत परिस्थितियों में से मात्र कुछ हैं जिनमें पात्रों की शिष्टवाणी मुखर हुई है।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥
(विक्रमो०, ३, १२)

समृद्धि से सज्जन उद्धत न होकर विनीत हो जाते हैं, जैसे फलागम (से फलों से लदकर) तरु झुक जाते हैं, जैसे नए जल से भरे मेघ नीचे लटक आते हैं—इस भूमिका के साथ विक्रमोर्वशी का राजा पुरूरवा, जो उर्वशी के प्रति आकृष्ट हो, स्वकीया के प्रति अपने अपराध से झुका है, खण्डिता रानी औशीनरी—पतिप्रसादन व्रत में रत प्रिया—से अतिविनीत मधुर वाणी में आत्मनिवेदन करता है—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥
(वही, १३)

भला, कल्याणि, यह व्रत का संभार क्यों ? क्यों इस कमनीय कमल-कोमल काया को अकारण व्रत से गला रही हो ? भला जो स्वयं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए दासवत् उत्सुक है उसके प्रसादन के लिए व्रत कैसा ? छोड़ो, रानी, व्रत छोड़ो, अकिंचन किंकर पर प्रसन्न हो ।

केशी दैत्य द्वारा अपहृता उर्वशी का पुरूरवा द्वारा उद्धार हो जाने पर भी असुरसंघात से मूर्च्छिता अप्सरा जब संज्ञा लाभ नहीं करती तब राजा असाधारण मधुर शब्दों में उसके भय का निवारण करता है—

गतं भयं भीरु सुरारिसम्भवं
त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः ।

तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं
निशावसाने नलिनीव पंकजम् ।
(वही, १, ६)

भय छोड़ो, अब भय का कारण असुर न रहा । त्रिलोक की रक्षा करनेवाली इन्द्र की महिमा फिर लौटी, विराजने लगी । खोलो, इन दीर्घायित अपने कमलनयनों को, जैसे निशावसान में, पौ फटते नलिनी खिलकर अपने नलिनविलोचन खोल देती है । कितना मधुर आश्वासन है, किसी साहित्य में प्रणयी अपनी प्रिया से इतनी कोमल गिरा में इतना स्वादु न बोला । उमा के प्रति शिव का समर्पण भी इसी प्रकार विनीत है—अद्यप्रभृत्य-वनतांगि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः—पार्वति, आज से, मैं तुम्हारा दास हुआ, तप से खरीदा हुआ ।

स्वयं यक्ष का मेघ के प्रति वक्तव्य अत्यन्त शिष्टवाणी में हुआ है—मेघ, पुष्पक और आवर्तक नाम के जगद्विख्यात विशिष्ट कुलों में जन्मे हो, इन्द्र के कर्मचारी कामचारी हो, मन-चाहा रूप धारण कर विचरनेवाले, इसीसे दैव का मारा, अपनों से दूर होने के कारण तुमसे याचना करता हूँ । तुमसे याचना करता हूँ,—क्योंकि तुम गुणसम्पन्न हो, और जानता हूँ—अधिक गुणवाले से याचना करना, निष्फल हो जाने की संभावना के बावजूद, भला है, सफल होने की संभावना होते भी अधम से माँगना अनुचित है । प्रार्थना में तनिक चाटुकारिता का पुट निश्चय है, पर है वह शिष्ट शालीन—(पु० मेघ, ६)—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

निशीथ के एकान्त में अपने ही शय्यागार में सुन्दरी अनायास आ जाय तो गृहस्थ क्या करे, किस विधि से उससे बोले, इसमें अयोध्या की राज्यलक्ष्मी के कुशावती में राजा कुश के शयनागार

में आ जाने पर कुश का संबोधन प्रमाण है—

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिना रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥
(रघु, १६, ८)

कौन हो तुम, शुभे? किसकी जाया हो? आधी रात को मेरे समीप एकान्त में तुम्हारे आने का कारण क्या है? और यह निचश्य जान कर बोलो कि रघुवंशियों का मन परदारा से विरत होता है। राजा ने वैदर्भी ललित पदावली में बड़े कोमल रीति से उस परिस्थिति में अपने आपको भी सावधान किया, निशीथ की नारी को भी।

ब्रह्मचारी के रूप में छद्मवेशी शिव जब तपती पार्वती के समीप पहुँचते हैं तब आतिथ्य स्वीकार विनीत आत्मीयता पगी वाणी में उपचार की भाषा में पहले दो-चार आवश्यक शारीरिक बातें पूछ—धार्मिक क्रियाओं के लिए वस्तुएँ सुलभ तो हैं, हरिणियों से खीझ तो नहीं होती, उनमें मन रम तो जाता है, उतना ही तप तो करती हो जितना शरीर सह सके क्योंकि शरीर ही सारे धार्मिक अनुष्ठानों का आदि साधक है—बड़ी विधि और औपचारिक शिष्टता से मर्म की बात कहते हैं—

अतोऽत्र किंचिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥
(कुमार०, ५, ४०)

(सात पद बोलने से ही मैत्री संबंध हो जाता है, सो हो ही चुका है), आतिथ्य सत्कार कर जो आत्मीयों-सा व्यवहार किया है, इससे प्रगट है कि मुझे आप अब पराया नहीं मानतीं (वही, ३९)। इससे और विशेषकर आपकी क्षमाशीलता को देखकर (संकेत है कि अभद्रता हो तो क्षमा कर देंगी) मेरा साहस कुछ बढ़ गया है, वैसे ब्राह्मण होने से स्वभाव से ही मुझमें जिज्ञासा की चपलता भी कुछ कम नहीं। सो 'यह जन' कुछ पूछने की धृष्टता करता है, जो गोपनीय न हो तो, हे तपोधने, उत्तर देने

की कृपा करें। इसमें 'तप की धनी' पार्वती के सामने 'यह जन' कहकर अपनी अकिंचनता भी प्रगट की गयी है। फिर स्वीकृत सूचना से आश्वस्त हो वह पूछता है कि इस घोर तप का आखिर कारण क्या है ? स्वर्ग की इच्छा हो नहीं सकती क्योंकि आपके पिता की भूमि ही देवताओं का निवासस्थल है, और जो पति की कामना से तप करती हैं तो वह भी व्यर्थ है क्योंकि (संमोहक रूप के रहते उसकी क्या आवश्यकता ?) आखिर लोग रत्न को खोजते हैं, रत्न स्वयं लोगों को नहीं खोजा करता—इसमें रूप की शिष्ट चाटुकारिता है—

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
अथोपयान्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥

(वही, ४५)

और वही ब्रह्मचारी जब शिव की निन्दा करने लगता है तब पार्वती का रुख सहसा बदल जाता है, धैर्य और क्षमा क्रोध का रूप धारण कर लेते हैं। तमक कर सखी से कहती है—देख सखी, इस ब्रह्मचारी के होंठ कुछ फिर हिले, लगता है मना कर देने पर भी यह कुछ कहनेवाला है, रोक इसे और जान कि महात्माओं की निन्दा का पाप केवल निन्दा करनेवाले को ही नहीं सुननेवाले को भी लगता है—

निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥

(वही, ८३)

सीता की अकिंचनता, प्रसन्नता, शालीनता, क्रोध आदि का शब्दान्वयन जो कवि ने किया है वह असामान्य है। वन से लौटने पर सासों को प्रणाम करते समय वह कहती है—मैं ही हूँ, पति को क्लेश दिलानेवाली कुलक्षणा सीता—क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति। और तब चरणों में पड़ी सीता को उठाते हुए माताएँ कहती हैं—उठ बेटी, और जान कि तेरे पति यह पुरुषोत्तम राम अपने अमनुजकर्मा अनुज लक्ष्मण के साथ आज तेरे ही तप और पावन

व्रत के प्रभाव से महान् संकट से मुक्त हुए हैं—उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव। कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति—(रघु०, १४,६)। सीता का राम द्वारा परित्याग, सीता और लक्ष्मण दोनों के लिए कठिन हुआ। अपने कष्ट को दबाकर प्रणाम करने के लिए चरणों में पड़े लक्ष्मण को उठाकर सीता ने आशीर्वचन कहा—प्रसन्न हूँ, सौम्य, चिर जीओ। जानती हूँ, गुरुजन के आज्ञाकारी होने से तुम लाचार हो, परवश मात्र आज्ञा का पालन कर रहे हो, इन्द्र के अनुज विष्णु की भाँति—

प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव। विडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्राता यदित्थं परवानसि त्वम्॥ (वही, ५९)—और फिर जब याद आता है कि पति को संवाद भेजना है तब सहसा क्रुद्धवाणी फूट पड़ती है—

वाचस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥

(वही, ६१)

'कहना उस राजा से'—पति या भाई से नहीं—'मेरे शब्दों में कहना—अग्नि में डालकर (सोने को तपाकर) जिस मेरी शुद्धता को तुमने परखा था उसे आज लोकापवाद के डर से अकारण त्याग जो आचरण कर रहे हो वह क्या उस यशस्वी सूर्यकुल के योग्य है?' और तब वह अचेत होकर, लक्ष्मण के जाने पर, गिर जाती हैं। फिर विलाप करती जनकनन्दिनी को पहचान उसे अपनी रक्षा में लेते हुए वाल्मीकि भी जिस गिरा का उद्गार करते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है—तुम्हारे यशस्वी श्वसुर मेरे सखा थे, साधुओं के भवबन्धन काटनेवाले जनक तुम्हारे पिता थे, स्वयं तुम पतिव्रताओं में अग्रगण्य, उनकी धुरी सम्हाले हुए हो, फिर भला मेरी दया की याचना कैसी? मेरी रक्षा की तो तुम स्वाभाविक ही अधिकारिणी हो (वही, ७४)। मूल की शालीनता दुर्लभ है—

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ।।

रघु और इन्द्र का संवाद भी बड़ा गरिम है। पिता के यज्ञाश्व को जब इन्द्र चुरा लेता है तब अश्वरक्षक युवा रघु शिष्ट वाणी में उसे संयत धिक्कारता है—देवेन्द्र, मनीषी कहते हैं, यज्ञ के भाग के पहले अधिकारी आप हैं फिर, हे नित्य दीक्षित, निरन्तर विधि क्रियाओं में संलग्न आपके ही अर्थ यज्ञ करते मेरे पिता के यज्ञ-में यज्ञ का अश्व चुरा कर भला आप यह विघ्न क्यों डाल रहे हैं ? (वही, ३,४४)

मखांशभाजां प्रथमां मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यासे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रिया विघाताय कथं प्रवर्तसे ।।

रघु के अभिमान भरे वचन को सुनकर उससे प्रभावित हो अपने रथ को इन्द्र ने तत्क्षण लौटाया और उस वचन की शालीनता पर विचार करता वह स्वयं उसका उत्तर देने को उद्यत हुआ। इस प्रक्रिया और इन्द्र के उत्तर दोनों का कवि ने बड़ा गरिम वर्णन किया है–

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ।।

(वही, ४७)

और उत्तर इस प्रकार था—सही राजकुमार, बात तुमने निःसन्देह सच कही है, परन्तु हमारे जैसे यशस्वियों का अपने यक्ष की शत्रुओं से रक्षा करना भी स्वाभाविक है। तुम्हारे पिता हमारे विश्वविख्यात यश को यज्ञ द्वारा तिरस्कृत करने पर तुले हैं, क्या करूँ ?—

यदात्थ राजन्यकुमार तत्त्वथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदेशषभिज्यया भवद्गुरुर्लंघयितुं ममोद्यतः ।।

(वही, ४८)

तारकासुर के वध के लिए जब कुमारसम्भव के अर्थ इन्द्र को पार्वती के प्रति शिव का मन आकृष्ट करने की आवश्यकता

हुई तब उसने कामदेव को सहायता के लिए आमन्त्रित किया। इन्द्र और काम का संवाद कवि द्वारा कुमारसम्भव, सर्ग ३, में प्रस्तुत पर्याप्त मार्मिक है। आते ही मदन देवराज से पूछता है, सर्वज्ञ, आज्ञा करें, तीनों लोकों में आपको क्या कराना अभीष्ट है? मुझे स्मरण कर आपने मुझपर जो अनुग्रह किया है करणीय संपादन कर मैं उसे और बढ़ाना चाहता हूँ।

बोलो, कठिन सती धर्म को निभानेवाली किस पतिव्रता में तुम्हारा चंचल मन जा रमा है? जो उस नितंबिनी की इच्छा हो तो ऐसा करूँ कि लज्जा तज कर वह स्वयं अपनी भुजाएँ तुम्हारे कंठ में डाल दे—

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां, लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ।।७।।

फिर अन्त में काम इन्द्र को कार्य की सफलता में आश्वस्त करता हुआ कहता है—

प्रसन्न हों, वीर, अपने वज्र को विश्राम दें, बस मुझे बता दें, वह कौन असुर है जो वाणों से इतना वीर्यहीन हो जाना चाहता है कि उसे कोप से फड़फड़ाते होठोंवाली नारी तक डरा दे।

संस्कृत साहित्य में क्रोध और उसके परिणाम शाप का इतना ओजस्वी वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं हुआ जितना शाकुन्तल के अंक ४ में हुआ है—

आः अतिथिपरिभाविनि,
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ।।१।।

हे अतिथि का अपमान करने वाली, सुन! जिस प्रिय का ऐसे अनन्य मन से स्मरण कर रही है कि मुझ तपोधन के स्वयं आ उपस्थित नहीं पहचानती, वह भी होने पर भी तुझे ऐसे भूल जाएगा जैसे पागल

अपने पहले किये कार्यों को नहीं पहचान पाता, बार-बार याद दिलाने पर भी वह तुझे पहचान नहीं सकेगा !

मेघदूत (उत्तर) में यक्ष अपनी प्रिया को संवाद के प्रसंग में जो आश्वासन भेजता है वह कथन की गरिमा के साथ ही नियति-ग्रस्त जीवन का भाग्यचक्र भी अद्भुत शक्ति के साथ प्रकट करता है—कल्याणि, किसने सर्वथा सुख ही भोगा है ? किसने सर्वथा दुख ही भोगा है ? अरे, सुख-दुख तो रथ के चक्के की नाईं कभी ऊपर कभी नीचे होते रहते हैं—यही बार-बार विचार कर मैं अपने आप ढाढस बाँध लिया करता हूँ, तुम भी यही विचार कर धीर धरो—

> नन्वात्मानं बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे
> तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
> कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
> नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥४६॥

उत्तर मेघदूत, ५२, में यक्ष द्वारा मेघ के प्रति जो कृतज्ञता प्रकाशन है वह भी बड़ा मार्मिक है, आशीर्वाद सहित सम्पन्न हुआ है—

> एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
> सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्धया ।
> इष्टान्देशांजलद विचर प्रावृषा सम्भृतश्री-
> र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥

मेघ, प्रिय मित्र, तुमसे मैंने अनुचित निवेदन किया है । तुम पर कार्य का बोझ लादना अनुचित ही है । फिर भी मित्रता से अथवा मुझे विरही विपन्न जानकर दया के विचार से मेरा यह कार्य कर देना । फिर तुम वर्षा के दिनों में मनमाने देशों में विचरना । मेरी यह उत्कट कामना है कि तुम्हारी प्रिया बिजली से तुम्हारा क्षण भर भी वियोग न हो !

यह भावुक कृतज्ञता शाकुन्तल, ७, ३० में अत्यन्त कौशल से प्रगट की गयी है । विनीत शिष्ट दुष्यन्त मरीचि के आश्रम में शकुन्तला से मिलने पर, जिस पुत्र की कामना उसके हृदय को

सदा सालती रहती थी, उसके वहाँ अनायास मिल जाने पर ऋषि के प्रति अति संस्कृत वाणी में आभार प्रगट करता—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥

भगवन्, आपकी कृपा से सारी सम्पदा बिना कारण-कार्य की अपेक्षा किये ही उपलब्ध हो जाती है। प्रकृति का नियम है, कारण पहले होता है, कार्य-परिणाम पीछे, पहले फूल लगते हैं पीछे फल, पहले मेघ आते हैं फिर पानी बरसता है—पर इस क्रम की सत्ता आपका संयोग होते ही कृपापात्रों के सम्बन्ध में नष्ट हो जाती है—क्योंकि आपके अनुग्रह से फल पहले मिल जाता है, उसके लिए कार्य पीछे होता है। सो मैं अत्यन्त उपकृत हूँ, अकारण पुरुषार्थविहीन संपत्तिवान्। मधुर कोमल पदावली में कठिन भावों का इतनी सुघराई, इतनी सादगी से प्रकाशन हुआ है कि मन नाच उठता है।

शाकुन्तल में दो स्थल नितान्त शालीन हैं। उनमें से एक शार्ङ्गरव द्वारा प्रगटित राजा के प्रति कण्व का सन्देश है, दूसरा स्वयं कण्व के प्रस्थान के समय शकुन्तला के प्रति आशीर्वचन हैं। प्रशंसात्मक गरिम गिरा में शार्ङ्गरव कहता है—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसिय-
च्छकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः॥ (५, १५)

तुम जैसे पूजनीयों में अग्रणी प्रसिद्ध हो, यह शकुन्तला भी वैसे ही मूर्तिमती सत्क्रिया है। ब्रह्मा प्रायः असमान गुणोंवाले वर-वधुओं को परिणय-सूत्र में बांध हास्यास्पद बन जाता है, पर केवल तुम्हारे प्रसंग में समान गुणवालों को एकत्र कर वह दोषमुक्त हो गया है।

कण्व का आशीर्वचन तो साहित्य में अनुपम है—शकुन्तला को मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूर पर नील कमलों से श्यामल सरोवर मिलें, सूर्य की प्रखर धूप को सह्य बनानेवाले घने छाया-वृक्ष मिलें, राह की धूल पद्म की पराग-सी कोमल हो जाय, शान्त-शीतल बयार बहे, यात्रा निर्विघ्न हो !

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥ (४, १०)

११

कालिदास का मानवेतर विलास

प्रकृतिविलास संस्कृत कवियों का सहज धर्म रहा है। जिस निष्ठा और आयासहीन प्रवृत्ति से उन्होंने प्रकृति से साहचर्य किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। बाल्मीकि से जगन्नाथ तक की अटूट कवि-परम्परा ने तृण से अश्वत्थ तक, वीरबहूटी से मत्त गयन्द तक अपनी विविधता से अनन्त प्रकृति को चौसर निहारा है, नग्न सँवारा है। कालिदास ने विशेष।

मानव जैसे सृष्टि का केन्द्र है, कालिदास के कवित्व का केन्द्र भी वही है, पर केन्द्र ऐसा जो कभी एकाकी नहीं हो पाता, सदा उसमें उसके सांनिध्य और संदर्भ में प्रकृति मुखर रहती है। मानव, मानव के प्रति उदासीन हो जाता है, वह उसे तज देता है, पर प्रकृति उसे कभी नहीं तजती, सदा उसे घेरे रहती है, उसकी सहानुभूति कभी उसे छोड़ती नहीं। नीचे हम कालिदास के उसी मानवेतर विलास पर एक नज़र डालेंगे, ओषधि-वनस्पतियों पर नहीं—क्योंकि उनसे तो कवि का साहित्य भरा है—उनसे भिन्न जीवधारियों पर, मृगों पर, पक्षियों पर, भौंरों पर।

साहित्य का निर्माण कवि की तीन सहज विधियों का परिचायक होता है। एक, जब वह प्रकृति को अपने से भिन्न प्रत्यक्ष देखता है, जैसे विद्यापति—

नव वृन्दावन नव नव तरुगन
नव नव विकसित फूल,
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल ।

दो, जब कवि पर उसका वहिरंग हावी होता है, जब उस वहिरंग को सह और साध कर वह अपनी स्थिति को अभिव्यक्त करता है, जैसे फ़िराक—

इक रात भारी है शमा पै जिस तरह,
हमने तमाम उम्र गुज़ारी है इस तरह ?

तीन, जब कवि प्रकृति के साथ सर्वथा एकाकार हो जाता है, जब उसके पात्रों का जीवन प्रकृति के अवयवों की अनुभूति बन जाता है और कवि द्वारा अभिसृष्ट मानव और प्रकृति एक-दूसरे के प्रति सहज एकाग्रह प्रकट करते हैं, जैसे कालिदास के शाकुन्तल में—

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शंके संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ।।

दुष्यन्त प्रिया से विरहित बैठा है, काम अपने वसन्तादि सैनिकों द्वारा उस पर आक्रमण करना चाहता है, पर उस 'अनुशय दुःख' से आविर्भूत मानव पर वे आक्रमण नहीं कर पाते, विरत हो जाते हैं, सहानुभूति की आर्द्रता उन्हें उसके प्रति अनुरक्त कर देती है—आम बौरा चुके हैं पर मंजरियाँ अपने कोठ में मकरन्द बाँध नहीं पातीं, पराग बरसा नहीं पातीं, उसका संचार बरबस रोक लेती हैं, क्योंकि सामने मानव विमन व्याकुल बैठा है, कुरबक अपनी कलियों का संभार लिये कब से खड़ा है, उसकी कलियाँ चिटक पड़ने के लिए, खिल जाने के लिए बेचैन हैं, पर तरु उन्हें सहसा रोक लेता है और वे अपनी उसी कोरकावस्था में रुक जाती हैं क्योंकि सहृदय मानव शकुन्तला को खोकर बेहाल पड़ा है, शिशिर के जाते ही नरकोकिल गाकर वसन्त के आगमन की

सूचना दे देता है, पर आज उसकी कूक नीरव है, शिशिर सिधारा और कण्ठ में फूटने के लिए उसका रव आया भी पर उसने उस उचरती कूक को गले में ही घोट दिया क्योंकि हिया का मारा मानव व्यथित है, फिर वसन्त कैसे आए, काम कैसे दुष्यन्त पर आक्रमण करे ? सो मदन भी भयातुर हो आक्रमण के लिए तरकश से आधा खींचा हुआ तीर तरकश को वापस लौटा देता है !

पशुओं, पक्षियों के प्रति मानव की ममता ही उन्हें उसके प्रति आकर्षण की डोर में बाँध लाती है। मृग के लिए कुश का ग्रास स्वाभाविक है, पर जिसने उसे पुत्र बना कर पाला है, चुन कर कोमल कुशों का गस्सा हथेली से उसे दिया है, अनवधानता से, अनतिक्रम्य लोभ से जो उसने कुशों की नोक से तालु छील लिया है उस घाव को जब शकुन्तला इंगुदी के तेल से भरती है तब पति-गृह जानेवाली उस जननीरूपिणी ऋषिकन्या की राह वह कैसे छोड़ दे, पग पग लग उसे क्यों न विरमा ले ?

> **यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां**
> **तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।**
> **श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति**
> **सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥**
>
> (शाकुंतल, ४, १३)

अरे जंगल के बीज और दाने खिला-खिला कर, अंजलि भर-भर नीवार के दानों से पार्वती ने हरिणियों को इस तरह भरमा-परचा लिया था कि वे उसके पास जाते हिचकती नहीं थीं और तब पर्वत की जाई वह उमा उनकी आँख पर अपनी आँखें रख उनकी छुटाई-बड़ाई नाप लेती, सखियों का कुतूहल आसमान चूमने लगता। भोली मुग्धा और भरमी हिरनी का यह कौतुक देख सखियाँ ठग जातीं—

> **अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।**
> **यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥**
>
> (कुमारसंभव, ५, १५)

कुछ अजब नहीं कि नयनों की यह अभिराम प्रतियोगिता उमा और मृगियों में कटुता उत्पन्न कर दे, इससे उसके सद्भाव के प्रति आश्वस्त होकर भी कवि उनके प्रति उसकी कृपा का आग्रह करता है—

> अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु ।
> य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥
>
> (वही, ५, ३५)

पद्मनयने, तुम्हारे नयनों के समान ही इन हरिणों के नयन भी चंचल हैं, उन्हीं की चपल चारुता का वे भी अभिनय करते हैं, तुम्हारे अपने आप खिलाते हाथ से कुशा छीन कर खा जाते हैं, इनसे खीझतीं तो नहीं ? तुम्हारे मदिर चंचल नयनों की चारुता से इनके नयन जो होड़ करें, प्रतियोगिता भरी ढिठाई करें और ऊपर से तुम्हारे हाथ से कुशा छीन कर खा जायँ तो तुम्हारा खीझ जाना संभव है, पर उनकी अधीरता से तुम कहीं झल्ला तो नहीं उठतीं ? स्वयं तुम संयत तो रहती हो, उनसे स्निग्ध व्यवहार तो करती हो ?

मानव का मानवेतर प्राणी के प्रति यही प्यार उसकी अनुकूल प्रतिक्रिया का मानव को धनी बनाता है । वह अब कभी अकेला नहीं रह पाता । राम को विरहावस्था में, सीता की खोज में भरमते उनके दुःख से कातर आहार से उदासीन हो दूर्वांकुरों का आहार बन्द कर लोचनों की पलकें दक्षिण दिशा की ओर चुपचाप उठा कर हरिणियाँ मार्ग का मर्म बताती थीं, लंका की दिशा की ओर संकेत करती थीं—

> मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
> व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥
>
> (रघुवंश, १३, २५)

सीता का परित्याग जितना उनके लिए दुखद है उतना ही वनवासी पशु-पक्षियों के लिए भी असह्य हो उठता है । महाकान्तार में जानकी का विलाप जीवधारियों के हृदय को मथ देता है—

मोर नाचना बिसार देते हैं, तरु फूलों के आँसू डालने लगते हैं, हरिणियाँ मुँह की अधकुचली दूब नीचे डाल देती हैं—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ।।

(वही, १४, ६९)

मानव और मानवेतर जीवों का परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध होने से ही यह प्रतीति उत्पन्न होती है जिससे दोनों के बीच सद्-भावना का उदय होता है। कालिदास न केवल दोनों के इस पारस्परिक सम्बन्ध को आचरण में अनिवार्य मानते हैं बल्कि अनेक बार तो पशु-पक्षियों के आचरण को मनुष्य के मनुष्य के प्रति आचरण का आदर्श घोषित करते हैं। यह स्थिति बार-बार उनके काव्यों में चित्रित हुई है।

शकुन्तला के चले जाने के बाद अपने उजड़े मन को बसाने के लिए जो दुष्यन्त अनेक उपक्रम करता है उनमें एक चित्रांकन है। चित्र बनाते हुए उसे एक असाधारण अभिप्राय (मोटिफ़) की संज्ञा होती है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।।

(शाकु०, ६, १७)

ऐसा चित्र बनाऊँ, दुष्यन्त सोचता है, जिसकी अग्रभूमि में मालिनी की वह धारा हो जिसके तीर उसका प्यार पला था, जिसकी रेत के अंचल में हंसों के जोड़े किलोल कर रहे हों, उसके दोनों ओर पार्वती के पिता हिमालय की पर्वतमालाएँ दौड़ती चली गयी हों, हिरन जिस पर विराज रहे हों। फिर अपनी शाखाओं से तापसों के वसन लटकाए तरु के नीचे कुछ ऐसा रचना चाहता हूँ जिसमें अपने प्यारे काले मृग की छाँह बैठी मृगी उसकी सींग से अपना बायाँ नयन खुजा रही हो।

कितनी मानस को विभोर कर देनेवाली कल्पना है, दुष्यन्त की मनोवृत्ति के प्रतिकूल ! मृग का कठोरतम अंग उसकी सींग होती है, मृगी की मृदुतम उसकी आँख। अपने मर्मतम को अन्य के कठोरतम की नोक पर न केवल रखना वल्कि उससे सुखमय व्यापार करना निःशेष विश्वास का परिचायक है। मृगी जानती है कि उसका प्रिय उसका अनन्य गोप्ता है, जिससे उसका अकल्याण कथमपि संभव नहीं। इससे वह अपनी आँख उसकी सींग पर रखकर खुजाती है। उसके विपरीत मानव दुष्यन्त का आचरण है—जहाँ रक्षा की आशा की थी वहाँ निष्कासन मिला ! मनुष्य-राज को पशु से दाम्पत्य स्नेह-प्रतीति सीखनी है !

दशरथ की आखेट चेष्टा मृगी की उत्सर्ग भावना ने कुंठित कर दी—

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
वाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥
(रघु०, ६, ५७)

विष्णु के-से अमोघ धन्वी राजा ने कृष्णसार मृग को मारने के लिए जैसे ही वाण संधाना वैसे ही उसकी सहचरी मृगी प्रिय की रक्षा के हेतु प्राणोत्सर्ग करने वाण की राह में आ खड़ी हुई और प्रणय की पीड़ा जाननेवाले उस भावुक राजा को अपनी प्रिया की सहसा याद आ गयी और उस मृदुमना अहेरी ने कान तक खिंचे धनुष की प्रत्यंचा से वाण उतार लिया !

राजा ने फिर-फिर हिरनों को अपने तीरों का शिकार वनाना चाहा, फिर-फिर उसे अपना आवेग रोक आखेट से विरत हो जाना पड़ा। कारण कि उनकी हिरनियों के रिस भरे आकुल नयनों में उसे अपनी तरुणी प्रिया के चटुल नयन सहसा झलक पड़े, उनके नयनविभ्रम, दृष्टिविलास उनकी गहराइयों में आ चमके कानों तक खिंचा कार्मुक कार्य से विरत हो गया—

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निविडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रम चेष्टितानि ॥
(वही, ५८)

पशुओं-पक्षियों के प्रति सद्भाव, मानव में अपनी प्रिया के प्रति अधिकाधिक सौजन्य जगाता है, उनकी चेष्टाओं में प्रणयिनी के विलास, विभ्रम प्रतिबिंबित हो उठते हैं। दूर तो दूर, नितान्त समीप अपने घोड़े को बगल से उड़ कर निकल जाते हुए मयूरों तक पर राजा बाण नहीं छोड़ पाता क्योंकि उनके रंग-बिरंगे रुचिर कलाप को देख उसे प्रिया के विविध रंगों की फूलमालाओं से गुँथे पर संयोग से शिथिल केशपाश की सहसा याद आ जाती है—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकारः ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥
(वही, ६७)

मृगों के प्रति कवि का उल्लास अनायास उसके काव्य में छलक पड़ता है। जब पावस धरा को सींच देता है, उसकी छटा अनुपमेय कर देता है, जब उस पर बिल्लौर के-से घासों के अंकुर छा जाते हैं, केलों के नए निकले पत्तों के भार से वह पुलक उठती हैं, बीरबहूटियों से उसके अंग-प्रत्यंग ढक चलते हैं, तब उन्मत्त नायिका-सी धरणी सज उठती है। और तभी चपल पद्म-नयनों से छविवान यश से आतुर हिरन ढेर-के-ढेर वनस्थली की बालुकामयी भूमि पर उमड़ पड़ते हैं और मन बेबस हो जाता है, बरबस उधर खिंच जाता है—

विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननैः
मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।

समाचिता सैकतिनी वनस्थली
　　　　समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥
(ऋतु०, २, ९)

हिरनों-हिरनियों के दलगत ग्राचरण का चित्रण कवि ग्रसाधारण ग्रभिराम करता है। उनका झुंड सहसा सामने ग्रा निकला है। हिरन ग्रौर हिरनियाँ कुशाग्रों की फुनगियाँ चबाती ग्रा रही हैं, मृगशावक ग्रपने स्वभाव के ग्राचरण से उनकी गति रोक लेते हैं। राह में चलते-चलते ग्रक्सर वे ग्रपनी माताग्रों के थनों में मुँह मार लेते हैं जिससे मृगियों को ठमक जाना पड़ता है। दल का नेता गर्वीला कृष्णसार उनके ग्रागे-ग्रागे चलता है—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैः
　　　　र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
ग्राविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
　　　　यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥
(रघु०, ९, ५५)

तभी ग्रहेरी ग्रश्व पर चढ़ा सामने सहसा ग्रा निकलता है, पर तीर तरकश से निकाल जैसे ही वह धनुष पर चढ़ाता है, वैसे ही मृगों का वह दल बिखर जाता है, ग्रौर तब उनके ग्राकुल दृष्टिपातों से वह वन श्यामायमान हो उठता है, लगता है, जैसे वायु ने नील कमलों की ग्रार्द्र पंखुड़ियों को सहसा बिखेर दिया हो—

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
　　　　तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपंक्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै—
　　　　र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥
(वही, ५, ६)

कवि जैसे हिरनों से खेलता है, उनकी विविध दशाग्रों का, ग्रनुभूतियों का प्रत्यक्ष ग्रंकन करता है। उनके संदर्भ का एक ग्रत्यन्त मार्मिक वर्णन कुमारसंभव के तीसरे सर्ग में हुग्रा है— प्रियाल वृक्ष की मंजरियों के मकरन्द से हवा बोझिल है। भौरों

की धूल चला कर हवा जैसे हिरनों को मारती है। उन वाणों की बौछार से पिटे उलटे दौड़ते मृग अन्धे हो जाते हैं। उधर पवन से गिराये सूखे पत्तों से वनस्थली मर-मर कर रही है। बौरों के रस से आँखों के भरे होने से हिरन देख भी नहीं पाते, इधर-से-उधर भाग रहे हैं, कौन जाने वह मर-मर ध्वनि खूनी जानवर की ही हो—

मृगाः प्रियालद्रुममंजरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः।
मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥
(वही, ३१)

पशु-मानवों के प्रकृति विलास का साहित्यदुर्लभ वर्णन कवि ने ऋतुसंहार में किया है। ऋतुओं की विविध भाव-भंगिमाओं, उनके निरन्तर वदलते संदर्भों का इतना चैतन्य अंकन अन्यत्र नहीं हुआ। ऋतुओं का जीवधारियों पर प्रभाव, अनेक वार स्वभाव-भिन्न प्रेरक सिद्ध होता है जब वे अपनी प्रकृत्यमैत्री तक भूल जाते हैं। गर्मी की मार से व्याकुल सिंह न मृगों पर चोट करता है न भैंसों पर, मयूर के छत्र के नीचे साँप बैठता है, साँप के छत्ते के छाँव में मेंढक साँस लेता है, वनैले सुअर सूखे तालाबों में व्याकुल डोल रहे हैं।

वस्तुतः कालिदास ने इतने अपनापे से सभी पशु-पक्षियों का प्रकृत्यांकन किया है कि यह कह सकना असम्भव है कि किन के साथ उसका विशेष मोह है। गजक्रीड़ा और अश्वसाधन, मृगया और मृग के प्रति राजाचरण के जिस निष्ठा और मोह से कवि ने चित्र खींचे हैं, उसी निष्ठा और मोह से चमरियों और नन्दी के भी खींचे हैं, चातकों-सारसों के भी। कोकिलाओं-भ्रमरों का कोष तो संस्कृत कवियों का समान रूप से अपना है। रघुवंश (सर्ग २) में मृगराज और नरराज का जो परस्पर आचरण है, साहित्य में वह एकाकी है, जैसे उसी प्रसंग का गोचारण भी, गोसेवा का अनन्यसाधारण मानव व्रत भी।

और नन्दी के दायित्व का जो वर्णन कालिदास ने कुमार-

संभव (सर्ग ३) के शिव समाधि के प्रसंग में किया है वह सर्वथा मानवीय है। नन्दी समाधि के लताद्वार पर गुप्तकालीन सन्तरी की भाँति बाँई भुजा पर वेत्रदण्ड (कालिदास का स्वर्णदण्ड) टिकाए खड़ा है। कवि के वर्णनक्षेत्र में आकर वह असामान्य मार्मिक आचरण करता है—होंठों पर तर्जनी धरे संकेत से गणों को सावधान करता है—खबरदार, चुप हो जाओ, हिलो-डुलो नहीं, स्वामी समाधि में हैं—

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः।
मुखार्पितैकांगुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत्॥ (१४)

उस संकेत का परिणाम यह होता है कि सहसा वृक्षों तक का हिलना-डुलना बन्द हो जाता है, भ्रमर अपना संचार भूल फूलों में जा छिपते हैं, पक्षधारी अचल हो जाते हैं, मृगों, पशुओं का संचरण बन्द हो जाता है, लगता है कि उस नन्दी की आज्ञा से वह समूचा वन चित्र में अंकित-सा निश्चल हो गया है—

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे॥ (१५)

अन्य संस्कृत कवियों की ही भाँति कालिदास की कृतियों में भी गज की शालीनता का उल्लेख बार-बार हुआ है, इस कवि ने स्वतंत्र रूप से भी उसकी आचरण-गरिमा की प्रशंसा की है। कवि कहता है कि राजा की ही भाँति गजराज अपने यूथ के गजों का नेतृत्व कर उन्हें स्वतंत्र यथाभिलाष चरने को छोड़ स्वयं घने घाम से तप शीतल छाँव में विश्राम करता है—

यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥

(शाकु०, ५, ५)

प्रातः हाथियों के जगने की चेष्टाओं का वर्णन करता कवि कहता है—हाथी जागकर दोनों करवटें लेकर शय्या छोड़ चुके हैं और अब वे अपनी जंजीरों को खींच-खींच कर बजा रहे हैं; उनके दाँतों पर जब बाल-सूर्य की अरुणाभ किरणें पड़ती हैं तब

वे कटे गेरु के पर्वत की सुन्दरता धारण करते हैं—

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तावेरमा मुखरशृंखलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगा-
द्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥
(रघु०, ५, ७२)

गजों की जलक्रीड़ा के अनेक वर्णन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कालिदास ने किये हैं। रघुवंश के सोलहवें सर्ग में अयोध्या की राजलक्ष्मी कुशावती को राजधानी बनाकर राज करनेवाले कुश से जब उजड़ी नगरी की कथा कहती है, तब उदार कारुण्य का मार्मिक चित्र उभर आता है। वर्णन चित्र का ही है, भित्तिचित्र, हथिनियों के संग गजों के वारिविहार का, जिसमें पद्मवन से ढके सरोवर में उतरते गजों का स्वागत हथिनियाँ कमल-दण्ड तोड़-तोड़ उन्हें प्रदान कर करती हैं। गर्द से रंग उड़ जाने पर भी अंकनों में इतनी शक्ति है कि सिंह उनसे अब भी भ्रमित हो उन्हें सजीव मान उन पर अपने नखों के अंकुश से चोट कर उनके मस्तक विदीर्ण कर देते हैं—

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः ।
नखांकुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ (१६, १६)

इस प्रकार के वारिविहार का एक चित्र अजन्ता की एक गुहा में भी अंकित है, जिसमें हथिनी अपने गजराज को कमल-दण्ड प्रदान कर रही है। रघुवंश के १९वें सर्ग में (११) कामुक राजा अग्निवर्ण के संदर्भ में एक उपमा का उपयोग हुआ है जिसमें वह मद्यगन्ध से महमह पानभूमि में वैसे ही प्रवेश करता है जैसे नलिनियों से भरे सरवर में गजराज हथिनियों के साथ प्रवेश करता है। उसी प्रकार के जलविहार का वर्णन कुमार-संभव (३, ३७) में हुआ है—

ददौ रसात्पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः

हथिनी गजराज को मकरन्द बसे जल का पान कराती है। बड़े

स्नेह से पहले वह परागगन्धी जल अपनी सूँड में लेती है फिर वह सम्मोहित जलासव वह अपने प्रिय के अन्तर में उंडेल देती है। कवि मानवेतर प्रसंगों के वर्णनों में भी मानव को नहीं भूल पाता, उसी के शिष्ट संस्कार मदिर आचरण का अनुसरण अन्य प्राणी भी करते हैं। गज की सूँड की याद कवि को विसरती नहीं, प्रसंगतः लौट आती है। विद्याधरों की सुन्दरियाँ जब अपने प्रेमपत्र भोज-पत्रों पर लिखतीं हैं तब सिन्दूरादि से लिखे अक्षर हाथियों की सूँड़ों की वुन्दकियों से लगते हैं—भूर्जत्वचःकुञ्जर-विन्दुशोणाः। पर सिंहों से गजों का प्रकृत वैर कवि के संस्कार में भी पलता है, गजों के सहज वैरी सिंह उन्हें जब मारते हैं उनका रक्त सिंहों के पंजों में लग जाता है, साथ ही गजमोती भी मस्तक से टूट कर पंजों में अटक जाते हैं। हिमालय की उस राह पर निरन्तर वर्फ़ गिरती रहती है जिससे पंजों का रक्त तो, जो सिंहों की गई राह बताता, धुल जाता है, पर रक्त की छाप की जगह छूटे गजमोती फिर भी सिंहों का पीछा करते किरातों को उनकी राह बताते हैं—

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः॥
(कुमार०, १, ६)

कालिदास के काव्यविन्यास में अश्वों का समावेश गजों से कुछ कम अभिमत नहीं। अज को जगाने के लिए प्रभात काल। वैतालिक जैसे गजों के जगने का वर्णन करता है, वैसे ही अश्वों का भी करता है—हे नलिनाक्ष, बड़े-बड़े खंभों से बँधे ये वनायु देश के (अरबी) तुम्हारे घोड़े जागकर चाटने के लिए रखे सेंन्धे नमक के टुकड़ों को अपने मुँह की गरम साँस से मलिन कर रहे हैं—

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु
निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि
लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः॥
(रघु०, ५, ७३)

सूर्य की गति अश्वों पर ही अवलंबित है, उन्हीं से जुते रथ पर दिनपति गगनपथ को लाँघते हैं। सूर्य और उनके अश्व दोनों के लिए यह आकाशोल्लंघन नित्य का होकर भी कठिन कार्य है। सूर्य दिन के अंत में शांति की स्वयं तो साँस लेते ही हैं, अपने घोड़ों का भार भी हल्का करते हैं। कान के चँवर से छूटी घोड़ों की आँखें मिचमिचा रही हैं, दिन भर कन्धों पर रखे जुए से उनके अयाल मसल गए हैं। गरदनें झुक गयी हैं, उन्हें विश्राम दे सूर्य अस्त हो जाता है—

सोऽयमातनशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ।
(कुमार०, ८, ४२)

कालिदास ने रथों में जुते घोड़ों की दौड़ का अनुपमेय वर्णन किया है, चित्र नेत्रों के सामने आ खड़ा होता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के पहले अंक में यह चित्र सुरक्षित है। सारथी घोड़ों की ओर संकेत करता राजा से कहता है—स्वामी, रास ढीली करते ही अपने आगे के शरीर को लम्बायमान कर सिर के तुर्रे को स्थिर कर, कानों को निष्कम्प उठाए ये घोड़े इतने वेग से भाग रहे हैं कि इनकी टापों से उठी धूल तक इनको नहीं छू पाती, लगता है जैसे ये सामने भागते लक्ष्य हिरन से दौड़ की तेज़ी में होड़ कर रहे हों—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥ (८)

घोड़ों की रेस देखनेवाले इस वर्णन की प्रत्यक्ष व्यंजना को विशेष समझेंगे। घोड़ों का शरीर तब कैसा लम्बा हो जाता है, गात के वेग से चँवर या कलँगियाँ बिलकुल स्थिर हो जाती हैं, कान ज़रा नहीं हिलते। यही स्थिति इन घोड़ों की भी है। इनके अत्यन्त वेग से भागने का परिणाम यह होता है कि जो वस्तुएँ

सामने नितान्त छोटी दिखाई देती हैं वे सहसा अत्यन्त बड़ी हो जाती हैं, जो आधी से कटी लगती हैं वे यकायक जुड़-सी जाती हैं, जो स्वभाव से टेढ़ी हैं, वे सीधी लगने लगती हैं। सच तो यह है कि रथधावन के वेग से न तो कोई वस्तु दूर दिखाई पड़ती है न पास—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥ (९)

रथधावन का एक और वर्णन विक्रमोर्वशी में हुआ है, घोड़ों से खिंचे जाते आकाशगामी रथ का। रथ के वेग से अश्वों द्वारा खिंचे जाने से मेघ चूर-चूर होकर धूल की तरह मार्ग में उड़ जाते हैं, पहियों के वेग से लगता है जैसे उनके अरों के बीच अनेकानेक अरे बनते चले जा रहे हैं। घोड़ों के सिर के चँवर उस दौड़ की तेज़ी से बिलकुल स्थिर हो गये हैं, चित्रलिखित जैसे, वैसे ही ध्वजा का वस्त्र तेज़ी से ध्वजा की डंडी और अपने छोर के बीच कड़ा निश्चल तन गया है—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्॥ (१,५)

वेग से रथ को आकाश मार्ग से लिये जाते दुष्यन्त के घोड़ों का वर्णन इसी शक्ति से कवि ने अभिज्ञान शाकुन्तल के सातवें अंक में भी किया है। आकाश से पृथ्वी की ओर उतरते समय पवन के तलों को लक्ष्य कर सारथी मातलि कहता है—

तीन धाराओंवाली गंगा की आकाशधारा इसी परिवह पवन के मार्ग में वहती है। इसी मार्ग में उन नक्षत्रों की स्थिति है जिनकी किरणों को फैलाता परिवह चलता है। इसी आकाश-भूमि को हरिविक्रम वामन ने अपने द्वितीय पग से नाप दिया था।

आकाश के अनेक वायुतलों में यह परिवह पवन का तल है। इसमें भागते रथ की गति ज़रा देखो—राजा देखता है, सकारता हुआ कहता है—सो तो प्रकट ही है क्योंकि रथ की अराओं के बीच से चातक उड़कर निकल जाते हैं, बिजली के चमकने से घोड़े उस चमक से लिपट जाते हैं, पहियों की धुरी जलकणों से भींगी हुई है, रथ की राह भी उनसे सिंच-सी गयी है—

> अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
> हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
> गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
> पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः॥ ७॥

कवि ने पशुओं के साथ ही ऋतुसंहार में ऋतुओं के निरन्तर बदलते जाते फ़िज़ाँ में पक्षियों का वर्णन भी किया है। पर विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र में जो उनका चित्रण ग्रीष्म के ताप के बीच किया है वह अनन्यसाधारण है—गर्मी से व्याकुल मोर तरुमूल के जलभरे शीतल थले में जा बैठता है, भौंरे कनेर की कलियों के मुँह खोल उनमें रम जाने के उपक्रम करने लगे हैं, हंस ने ताल के तपे जल को छोड़ नीर की कमलिनी की छाया में आश्रय किया है, और यह अभागा निदाघव्यथित थका उदास पंजरबद्ध तोता अपने विलासकक्ष में ही जल की रट लगाए हुए है। उसका बन्धन उसे लाचार कर रहा है, औरों की भाँति वह ग्रीष्म के अनुकूल आश्रय भी नहीं खोज पाता—

> उष्णार्तः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
> निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्याशेरते षट्पदाः।
> तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
> क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥
> (विक्रमो०, २, २२)

(मालविकाग्निमित्र २, १२ में) तपती गर्मी में पक्षियों की दशा दयनीय हो उठती है—बावलियों की नलिनियों के पत्रों की छाया में हंस आँख मूँदे बैठे हैं, धूप से भवनों के तप जाने से

कबूतर छज्जों को छोड़ बैठे हैं, वारियन्त्र द्वारा फेंकी जाती जल की बूंदों का प्यासा मोर उसके चक्कर काट रहा है, गर्मी की तपन सभी के लिए असह्य हो उठी है, क्योंकि सूर्य तप रहा है, उसने राजा के सभी गुण धारण कर लिये हैं, प्रखर ताप जिसका प्रधान गुण है—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥

चातकों, हारिल (वलाका, सारस) हंसों, द्वन्द्वचर रथांगों के प्रति भी कवि ने अपने स्नेह का सहज निर्झर खोल दिया है। अत्यन्त मधुर वाणी में वह मेघ को चातकों और हारिलों के संदर्भ में संबोधित कर कहता है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ।

(पू० मेघ, १०)

अनुकूल पवन तुम्हें धीरे-धीरे प्रेरित करता है, तुम्हारी बायीं ओर यह चातक मधुर गा रहा है, उधर तुम्हें गर्भाधान-सुख का कारण मान वह हारिल मादाओं का दल पांतें बांध नयनों के आकर्षण तुम्हारे साथ उड़ चलने को उद्यत है। चातक को सगन्ध, गर्वीला, कहा है, कारण कि स्वाति से भिन्न जल उसके लिए तिरस्करणीय होता है, और बलाका-दर्शन तो आरम्भ के लिए शुभ शकुन ही माना जाता है।

हंस संस्कृत कवियों के प्रधान अभिमत आलेख्य हैं। नीरक्षीरविवेक के अतिरिक्त मधुर व्यंजना में भी उन्हें उनका सान्निध्य उपलब्ध है। कालिदास ने उनका प्रतीकजन्य और साधारण दोनों अर्थों में उपयोग किया है। वर-वधू उनके जोड़े

रूप से चित्रित विवाह-दुकूल (वस्त्र) धारण करते हैं (हंस-चिह्नदुकूलवान्) क्योंकि उनका परिणीत मिथुन का-सा युगल आचरण दाम्पत्य का प्रतीक है। उन्हें 'हंस-मिथुन' परम्परया कहते भी हैं। उन्हीं के पदांकों का मालिनीपुलिनों में निरूपण दुष्यन्त ने अपने आलेख्य का इष्ट माना है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हंसों का कालिदास ने विविध और अनन्त वर्णन किया है। कमल के दंडों का पाथेय लेकर वर्षाकाल में हंसों के मानसरोवर जाने की बात तो कवि ने पूर्वमेघ में लिखी ही है, राजहंसी का पवन द्वारा उठाई तरंग से एक कमल से दूसरे कमल की छाया में जैसे उद्वेलित ताल लहर पर सरकना भी मधुर अभिव्यक्त किया है—

समीरणोत्थेव तरंगलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्।

(रघु०, ६, २६)

वैसे तो कवि की कृतियों में प्रायः सर्वत्र हंसों का मधुर वर्णन हुआ है पर मेघदूत में तो वह विशेष बन पड़ा है। विक्रमोर्वशी में राजा के मन पर चोट करनेवाली अप्सरा की उपमा जो राजहंसी से कवि ने दी है वह व्यंजना और ध्वनि दोनों में अपूर्व है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरा-
त्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रा-
त्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ (१, २०)

राजा कहता है—यह अप्सरा (उर्वशी) गगन मार्ग से जाती हुई मेरे मन को बलात् शरीर से बाहर खींचे लिये जा रही है, वैसे ही जैसे राजहंसी कमल की टूटी डंडी से उसका सूत (तन्तु) खींचे लिये जाती है।

द्वन्द्वचर, पतत्री, रथांग आदि नामों से कालिदास ने जिन चकवा-चकवी के जोड़े को अभिहित किया है वे सदा से काव्य में प्रणय-प्रणयी के प्रतीक रहे हैं। कवि-परम्परा है कि दिन में वे

पक्षियों के एक-दूसरे को दम्पतिवत् चारा चुगाने की प्रवृत्ति सामान्य दर्शन की वस्तु है पर चकवा-चकवी का उस दिशा में प्रयास सर्वथा कालिदास का निजी है। दाम्पत्य की वैधता प्रकट करने के लिए वे चकवी को चकवे की 'जाया' (पत्नी) कहते हैं, गज की हथिनी से भिन्न, जो मात्र उसकी मादा होती है। गज यूथप होता है, अनेक हथिनियों के झुंड में एकाकी नर, जिससे उसे अंग्रेज़ी में सांड की तरह 'बुल' कहते हैं, और उसके प्रति हथिनियों का व्यवहार प्रेयसियों का सा होता है, दे डालने का। पर चकवे-चकवी का परस्पर सम्बन्ध दाम्पत्य होता है, कमल नाल पहले स्वयं चखकर, उसका स्वाद जाँच कर तब चकवा उसे अपनी पत्नी को खिलाता है, उसे इस प्रकार आश्वस्त करता है—

अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां सम्भावयामास रथांगनामा ॥

(कुमार०, ३, ३७)

कबूतरों को ऊँची अटारियों पर मानव पड़ोस में बसना अच्छा लगता है, भवन की ओरियों में उनके चुपचाप सो जाने का उल्लेख कवि ने मेघदूत में किया है—सुप्तपारावतानाम्। कई बार तो खिड़की की जाली से निकले धूप के धुएँ में वे इस तरह मिल जाते हैं कि पहचान में भी नहीं आ पाते—

धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः । (विक्रमो०, ३, २)

पर कबूतरों से कहीं अधिक मानवोत्तर कवि ने मयूर को माना है। उसके नृत्य के अनेक वर्णन तो कवि ने किये ही हैं, उसके प्रति नागरिकों का विशेष प्रेम भी वह नहीं भूल पाता। प्रमदवनों (नजरबागों) में मोर पालना साधारण व्यापार था। उनके लिए दण्डवत् निवास-स्थल बना लिया जाता था। कवि कहता है कि निशा काल मयूर अपनी वासयष्टियों पर निद्रा के वशीभूत हो रहे हैं, सो लगता है जैसे उन्हें वहाँ कोर कर मूर्त कर दिया गया है—

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा वर्हिणो।

(वही)

वर्षा में मेघगर्जन से मदकर उनका पक्षमण्डल खोल नाच उठना तो कवि-चर्चा का सामान्य विषय है ही, कालिदास की नायिका यक्षिणी अपने विरह का एकाकी भरने के लिए स्वयं अपने पालतू मोर को नचाती है। उसकी बगीची में रक्ताशोक और वकुल के बीच उसके लिए वासयष्टि बनी है, बाँस की नयी कोंपल की आभावाली मणियों से जटित सोने की। ऊपर उसके स्फटिक की एक पटिया है जिस पर सांझ को वह मोर, मेघ का मित्र नीलकण्ठ, जा बैठता है और तब यक्ष की प्रिया यक्षी उसे बजते घुँघरुओं के कड़ोंवाले हाथों से ताल दे-देकर नित्य नचाती है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका कांचनी वासयष्टि-
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिंजावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥

(उत्तरमेघ, १६)

पंजरस्थ शुक द्वारा प्रणयान्तर शीतल जल के लिए पुकार मचाने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उसके बोले हुए वाक्य के उच्चारण का प्रसंग भी कवि ने नहीं छोड़ा। आज का प्रातः जगाता हुआ वैतालिक जब विरुद पाठ करता है तब कहता है कि स्वामी को जगाने के लिए जिस गिरा का उच्चारण करता हूँ उसे पिंजड़े का सुआ बार-बार दुहरा देता है—

अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मंजुवाक्पञ्जरस्थः॥

(रघु० ५, ७४)

और सारिका के अभिमत सौहार्द का प्रसंग भला कवि कैसे भूल पाता? उसके प्रति विरहिणी यक्षी का आचरण समीपस्थ मित्र का सा होता है। अपनी पालतू पिंजड़े की मधुरभाषिणी

सारिका से वह अपने विरह में पूछती है, क्यों रे 'रसिके', स्वामी को विसार दिया, या उसकी याद कभी करती है, तू भी तो भला उसकी प्रिया थी ?—

कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥

(उत्तरमेघ, २२)

पालतू पक्षी मानव परिवार के न केवल अलंकार थे वल्कि उसका अंग वन उसके सुख-दुख के साथी हो जाते थे।

नर-कोयल काम के सेनानी वसन्त का सहचर है। मधुर आलाप करने में स्वभावकुशल कोकिला को सुरत संबंधी कर्तव्य में स्वयं मदन आदिष्ट करता है जिससे वह अपनी कूक द्वारा प्रेमियों को उनके संकेतस्थान वताने में तत्पर हो जाय—

रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् (कुमार०, ४, १६)

उसी आदेश का यह परिणाम होता है कि जब नर-कोकिल आम के वौर खा, स्वयं वौराकर कषायकण्ठ हो जव कूकता है तव उसका कूकना रूठी कामिनियों के मानभंजन के निमित्त कुशल काम-वचन वन जाता है। उसे मानिनियाँ तव कामदेव का आदेश मान अपना मान तज देती हैं—

चूतांकुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥

(वही, ३, ३२)

वसन्त में कोयल की कूक द्वारा मदन मानिनियों को सूचित करता है— मान तज दो, प्रणय-कलह से लाभ क्या ? गया हुआ रमणीय यौवन फिर लौटने का नहीं। और तव नारियाँ मान तज रमणशील हो जाती हैं—

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥

(रघु०, ६, ४७)

वसन्तागम में प्रण से उल्लसित आम की मंजरियों की मदिरा से मदा नर-कोयल प्रिया को प्रगाढ़ चूमता है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः

(ऋतु०, ६, १४)

और उसके उस तरह चूमने का, उसके अभिराम कूकने का, परिणाम यह होता है कि उसका कलकण्ठी उन्माद जादू बन कर दूसरे के सिर बोलने लगता है—पतिव्रता लज्जावती कुलवधुओं की भी परीक्षा हो आती है, उनके विनीत हृदय भी क्षण भर के लिए व्याकुल हो उठते हैं—

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृंगैः ।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥

(वही, २१)

शिशिर के जाते ही अनजाने नर-कोयल के कण्ठ से वसन्त की वाणी फूट पड़ती है। पर वसन्त के आने की सूचना वह अपनी टेर द्वारा जिस मनुष्य को देना चाहती है वही अगर दुःखी हो तो कण्ठ से फूटती कूक भी वह बरबस दबा लेता है—

कण्ठेषु स्खलिते गतेपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतम् ।

भ्रमर और कमल संस्कृत काव्य में जैसे सर्वत्र उपलब्ध हैं, वैसे कालिदास के काव्य में भी उपलब्ध हैं। पर कालिदास द्वारा उनका उपयोग असामान्य हुआ है। कमलवत् मुख, कर, पादादि की व्यंजना होने से भ्रमर का मनुष्य से सांनिध्य होता है। कालिदास ने जहाँ-जहाँ उपमाओं में अथवा अन्यत्र भ्रमरों का उल्लेख किया है वहाँ-वहाँ चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इनके उल्लेख से उनका साहित्य भरा है, इससे तत्सम्बन्धी सारे स्थलों का संकेत तो नहीं किया जा सकता पर उनमें से कुछ का निर्देश यहाँ अरुचिकर न होगा।

ऋतुसंहार में वर्षासम्बन्धी एक श्लोक (१४) है—

विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका
विहाय भृंगाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।

पतन्ति मूढ़ाःशिखिनां प्रनृत्यतां
कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ।।

यहाँ भ्रमरों के भ्रम का निरूपण हुआ है—अभिराम गुंजारते उत्कण्ठित भ्रमर पत्तों से रहित नलिनी को छोड़ विभोर नाचते मोरों के पुच्छमण्डल को ही भ्रमवश नए कमल मान उस पर टूट पड़ते हैं। जब तब भ्रमर पर अभाग्य की छाया भी डोलती है। जब वह प्रातःकालीन ओसभरे कुन्द के फूल के चारों ओर मंडराता रहता है, तब वह न तो उसका रस ही चूस पाता है न उसे छोड़कर जा ही पाता है—

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्दस्तुषारं, न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्
(शाकु०, ५, १९)

उपवन ने अपने कुसुमों के संचित कोठ खो दिये, वायु पराग के कणों को अपने डैनों पर ले उड़ी, भौंरे उनके पीछे इधर-उधर उड़ने लगे। पराग ऐसा लगा जैसे भौंरे का गोट लगा धनुर्धर मदन का अभिराम ध्वजपट हो, जो लक्ष्मी के प्रसाधन का मुख चूर्ण उड़ चला हो—

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ।।
(रघु०, ८, ४५)

कमल का भ्रमर से इतना अनुराग है कि सन्ध्या को बन्द होने की बेला आ जाने पर भी वह अपना मुख थोड़ा क्षण भर खुला रख छोड़ता है जिससे बाहर भटक रहे भौंरे को वह प्रीतिपूर्वक भीतर बुला सके—

बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम् ।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ।।
(कुमार०, ८, ३९)

कमलदण्ड लिये विजय-वैजयन्ती फहराती-सी शिव के प्रति उमा अभियान करती है, लाल भरे होठों से निरन्तर उठती मधुर गन्ध पीने की इच्छा भ्रमर में क्षण-क्षण बलवती होती जाती है। क्षण-

क्षण जैसे वह उनपर टूटता है, क्षण-क्षण उमा हाथ के कमलदण्ड से उसका निवारण करती है (लीलारविन्द गुप्तकालीन नारियों के मण्डन का एक अंग था, उसे धारण कर वे बाहर निकलती थीं) और उस क्रिया में इधर-उधर उड़ते भ्रमर की गतिचारिणी उसकी डरी आँखें कहीं रुक नहीं पातीं, जिससे उसका सहज चापल्य और भी बढ़ जाता है। उधर भ्रमर के लिए लीलारविन्द और उमा के अधर दोहरा आकर्षण प्रस्तुत कर देते हैं। जो निवारण के अर्थ प्रतिकार नियुक्त होता है वह लीलाकमल स्वयं उसे आकृष्ट करता है, भ्रमर अपना इष्ट स्थिर न करके भी दोनों पर चोट करता ही जाता है। होठों पर भी, लीलारविन्द पर भी—

सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती॥

(कुमार०, ३, ५६)

दीर्घ कटाक्षों की उपमा मधुकरमाला से दी गयी है। पूर्वमेघ में जब वेश्याएँ मेघ को लम्बे-तिरछे देखती हैं, लगता है जैसे भौंरों की कतार उड़ी जा रही हो—

मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्

अन्यत्र कवि कहता है कि भ्रूविलास के समय जब बार-बार नेत्रों के सफ़ेद कोए इधर-से-उधर और उधर-से-इधर चलते हैं, जैसे माघी जुही के फूल, और उनके साथ ही ऊपर की पलकें उसी तीव्रता और क्रम से चलती हैं, जैसे भौंरे, तब लगता है जैसे जुही के फूल कोई इधर-से-उधर, उधर-से-इधर फेंकता जा रहा है और उनका पीछा करनेवाले काले भौंरे उन्हीं के साथ उसी क्रम से इधर-से-उधर और उधर-से-इधर उड़ रहे हैं—

पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम् (वही, ४७)

वसन्त ने मदन के लिए बाण बनाया। पल्लवांकुरों से बाण का पिछला भाग, उसका पंख, बनाया, और आम के नये बौरों से

वाण का फल, फिर इस प्रकार वाण तैयार हो जाने पर वाण का स्वामित्व प्रकट करने के लिए उसने उसपर भौंरों की कतार विठाकर मदन के नाम के अक्षर लिख दिये—

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधुद्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥

(कुमार०, ३, २७)

वसन्त के आलम में मधुकर आपानक बना पानरचना करता है। कुसुम रूपी एक ही चपक मधु (आसव) से भरता है, फिर पहले उसे अपनी प्रिया को पिलाकर पीछे उसका जूठा आप पीता है—

मधु द्विरेफः कुसमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमान.।

(वही, ३६)

फिर तो उस फ़िज़ाँ में अन्य जोव भी कोमल और मनभावन आचरण करने लग जाते हैं। इसमें प्रधान मृगदम्पति है— प्रिय के मृदुस्पर्श से जव मृगी के नयन अर्धनिमीलित हो जाते हैं तब कृष्णसार उसे अपनी सींग से खुजलाने लगता है—

शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

(वही)

अन्त में कवि की एक उपमा दिये बगैर भ्रमराचरण का यह प्रसंग समाप्त नहीं किया जा सकता। नारद की वीणा रो रही है—प्रसंग निश्चय मृत्यु की भूमि का है, इन्दुमती की मृत्यु की—कैसे ? गगनचारी नारद की वीणा से पुष्पमाला लटक रही है, भौंरे उसके नीचे मँडरा रहे हैं। सहसा माला नीचे गिर जाती है, भौंरे वीणा से लगे ही रह जाते हैं। पुष्पमाला के इन्दुमती के हृदय पर गिरने से तत्काल उसका निधन हो जाता है, इससे जैसे वीणा रो पड़ती है, अंजन लगी आँखों के रोने से काले आँसू जैसे भौंरों के रूप टपक पड़ते हैं—

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती वाष्पमिवाञ्जनाविलम्॥

(रघु०, ८, ३५)

कालिदास का काव्य जीवन का संचायक, जीवन का ही अविरल प्रवाह प्रस्तुत करता है। मानव-अमानव सभी जीवधारी कवि के उदार आयाम में अपना-अपना भाग पाते हैं, सभी सृष्टि के केन्द्र मानव के चहुँ ओर घूमते हैं, कवि अपनी अनन्त मानवीयता से सबको विदग्ध कर देता है, प्राणातुर।

●

१२

कालिदास और मधुपान

●

मधुपान अथवा कादम्बरी सेवन मनुष्य की अनादि-प्रवाह प्रवृत्ति का परिचायक है। मद्यपान संस्कृति से कहीं प्राचीनतर है जो बर्बरता का अन्त हो जाने पर भी न चुक सका और स्वयं संस्कृति का असामान्य श्रृंगार बना। आज भी संसार की वन्य और संस्कृत सभी जातियाँ मधु का सेवन करती हैं। आर्यों और उनके देवताओं का तो यह परम पेय था ही जिसका परिणाम यह हुआ कि जब वैदिक धर्म को धर्म-सूत्रों और स्मृतियों के नये विधान के आधार पर फिर से प्रतिष्ठित किया गया तब मनु आदि धर्मशास्त्रियों और गीतादिकों को मधुपान को 'युक्ताहारविहार' के संतुलित परिमाण में उचित स्वीकार करना पड़ा। पीछे वज्र-यानियों के तन्त्रयुगों में तो उसका इतना अनियन्त्रित और उदार प्रचलन हुआ कि वह साधक और सिद्ध का प्राथमिक अनिवार्य संस्कार बन गया और सिद्धिदायक 'पंचमकारों' में उसकी गणना हुई। कालिदास ने मधुपान को जीवन और शिष्ट आचार का अनिवार्य अंग माना है। उनके काव्यों में उसका अनन्त उल्लेख हुआ है।

उस महाकवि ने जीवन को अत्यन्त निकट से देखा था और उसने मधुपान को उस जीवन का मंडन माना। उसके विष्णु और शिव तक इस पेय का आदर करते हैं। राम अयोध्या के

बाह्योद्यान में गर्भवती सीता का जब अनेक उपकरणों से मन बहलाते हैं तब वहाँ की पानभूमि पर भी उनकी आँखें जा टिकतीं हैं जो 'चषकोत्तरा' हो गयी है, जहाँ नागरिकों द्वारा पिये मधु के चषकों का अम्बार खड़ा हो गया है। और कवि के इष्टदेव शिव तो मधुपान में अपना सानी नहीं रखते, विवाहोत्तर के अपने प्रणय-प्रसंग (हनीमून) में गन्धमादन की चोटी-चोटी पार्वती के साथ रम. मदिरा से छक-छक, मदिर-उल्लसित हो उस पर्वत का कण-कण वास देते हैं। क्या आश्चर्य कि परिणामस्वरूप कैलास के उस पर्वत-प्रदेश का नाम ही मदमस्त कर देनेवाले उत्कट गन्ध का वाहक पड़ गया हो ! 'हेडी वाइन' का असर पाषाण को भी मद देता है !

कवि के वर्णनों से लगता है मद्यसेवन तब के नागरिक का सामान्य आचरण था, उसके नित्य नैमित्तिक जीवन का अविच्छिन्न अंग। कभी-कभी तो मद्यपान की मात्रा इतनी बढ़ जाती थी कि पाँव लड़खड़ाने लगते थे, बोली अटपटी हकला जाती थी (स्खलयन्पदे पदे), नयनों के डोरे लाल हो जाते, उनकी पुतलियाँ घूम जाती थीं (घूर्णमान)। प्रमत्त कर देनेवाले मद्यपान का परिणाम यह होता ही था। कवि ने अपने पद 'पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम्' में जो मदनीयता का सांकेतिक उल्लेख किया है उसमें व्यंजना पान के परिणाम में मदनोन्मुख हो जाने की है, जभी तो संकेतों के शालीन कवि ने यक्षों द्वारा कल्पवृक्षों के 'रतिफल' नाम के मधु के सेवन का उल्लेख किया है। सुराप्रधाना सुरांगनाओं के उस देश में, यक्षप्रधाना अलका में, कल्पतरुओं के कुसुमों से ही तो मधु उतरेगा। फिर उन प्रसूनों से, कुसुममधु से भरे फल की व्याख्या क्या होगी ? रति। कवि ने उस मधु का, मदनीय मधु के फल का नाम ही रतिफल रख दिया है।

शोण्डीगृह (सोण्डिआपणं), राह की शराब की दूकान (शाकुन्तल, पृ० १८८) में पीने का मज़ा बड़ा सीमित था जिससे संभ्रान्त नागरिक खुले में, आसमान के नीचे पानभूमियों का संयोजन किया करते थे—

रचितापानभूमयः (रघुवंश, ४, ४२)

इन्हीं आपानभूमियों (आपानकों) में पानगोष्ठियाँ हुआ करती थीं। और जब मर्यादाभिन्न राजा अग्निवर्ण की भाँति गुमराह हो जाता था तब अनेक प्रियाओं का वह सखा ऐसे आपानकों की रचना करता था जिनकी पानभूमि भीनी और उत्कट मधु-गन्ध से गमक उठती थी।

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचना प्रियासखः (वही, १६, ११)

ऐसी ही पानभूमि की रचना कर अभियानमुखी रघुसेना दक्षिण सागर की तटवर्ती उपत्यका में नारियल के रस ले प्रस्तुत मधु का पान करती है—

नारिकेलासवं पपुः (वही, ४, ४२)

मधुपान की सार्वजनिक इच्छा का अनुमान तो मदिरा की विविधता और उसके विभिन्न नामों से भी किया जा सकता है। आसव, कादम्बरी, मदिरा, मधु, मद्य, वारुणी, शीधु आदि अनेक नामों से सुरा का उल्लेख कवि ने किया है। इनको तैयार करने के अनेक उपकरण थे जिनमें से कम-से-कम तीन प्रकारों का कवि द्वारा उल्लेख हुआ है। नारिकेलासव, पुष्पासव और शीधु का। जैसा नामों से स्पष्ट है, इनमें पहला नारियल के रस से बनता था, उसके फल के भीतर के रस से, यद्यपि ताड़ी का अर्थ भी शायद इससे वर्जित नहीं। दूसरा फूलों से खींचा जाता था। भ्रमरों का अनुसारी कुसुमसंचयी मानव भला फूलों के रस से विरहित क्यों कर रह पाता? जो रस भ्रमरों को गुंजायमान प्रमत्त कर देता है, जिससे वे कमल के संपुट हिये में, ऊपर मुख पर बैठ, कूज-कूज प्रिया की चाटुकारिता करने लगते हैं—

कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः
प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु—

जिस रसमंजरी को चूस नर-कोकिल कषायकण्ठ से गा-गाकर प्रमत्तराग हो मथकर प्रिया को चूम चलता है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन
मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः—

वह पुष्पासव भला कलाविद् मानव को विचल-उन्मुक्त क्यों न कर दे ? यह आसव अधिकतर मधूक (महुए) पुष्प से तैयार होता था। शीधु ईख के रस से बनी शराब होती थी। और ऐसी मदिरा सम्भ्रान्त जन सुच्चा नहीं पीते थे, पहले फूलों की गन्ध से उसे बास लेते थे। आम की मंजरियों या लाल पाटल से सुरा वासने की विधि थी—

सहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ (रघु०, १९, ४६)

इससे शिष्ट नागरिकों के श्वास के दूषित होने का भय नहीं रहता था। वैसे आसव से दूषित साँसों को सुवासित करने का उपाय बिजौरा नीबू, सुपारी, इलायची आदि साधारणतः उपलब्ध थे जिनका उपयोग सार्वजनीन था, सद्यःसर्वत्र प्राप्य।

आज की ही भाँति तब भी पुरानी शराब की बड़ी महिमा थी। कवि को उसकी गन्ध भूलती नहीं—निदाघागम में अर्जुन के श्वेत तरु फूलों से झूम उठते हैं, उसकी परागबोझिल मंजरियाँ कुछ ऐसी लगती हैं जैसे कामदेव को भस्म कर चुकने पर भी कोप के आधिक्य से शिव ने मदन के धनु की डोरी तोड़ दी हो और उनके कण उन वृक्षों पर व्यस्त हो गए हों। और जब, विशेषकर ग्रीष्म में, वसन्त के अभाव में, कामी निःसहाय हो उठते हैं, तब प्रकृति ही उन्हें ढाढ़स बँधाती है, अपने कुसुमों के आकर खोल उनका उद्दीपन करती है—सब चला गया पर आम के बौर, उनके कोमल पल्लव-खण्ड, फूलों से बसी ईख की पुरानी मदिरा, पाटल के टटके लाल फूल अब भी हवा पर हावी हैं। उनकी संयुक्त मधुर गंध ग्रीष्म के सारे दोष हर कामियों की सारी कमी पूरी कर देती है—

मनोज्ञगन्धं सहकारभंगं पुराणशीधुं नवपाटलं च ।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥

इस बात पर आश्चर्य करना कुछ ख़ास स्वाभाविक नहीं कि कालिदास के काव्यों में नारी के मधुपान का पुरुष के मद्यपान से

कहीं अधिक वार उल्लेख हुआ है। पुरुष को समूची भारतीय संस्कृति जीवन, और काव्य का भी, केन्द्र मानती है, जिससे स्वयं नारी और उसको आकर्षक वनानेवाले सारे साधन पुरुष के उद्दीपक हो जाते हैं। इससे जहाँ-जहाँ नर के रागवन्ध अथवा उसके विलास का वर्णन हुआ है वहाँ-वहाँ नारी के उद्दीपक मदिरायित आचरण का उल्लेख हुआ है। नर का मद्यसेवन तो इसी कारण गौण है, अनेक बार तो उस प्रसंग में इसका उल्लेख ही नहीं हुआ है।

कालिदास नारी के मधुपान से विशेष रतिलाभ करते से प्रतीत होते हैं। उसके मुख का वारुणी गन्ध तो अनेक बार वर्णन का, ऋतु के प्रसंग में अनिवार्य अंग बन गया है। शिशिर की शीत ऋतु में पान खाकर, कस्तूरी आदि से प्रस्तुत अंगराग लगाकर, पुष्पमालाएँ धारण कर, कालागुरु, धूपादि से केशों को वास और मधुर मधु पीकर उसकी वास से मदिर मुखकमल वाली स्त्रियाँ वड़ी उत्कण्ठा से सोनेवाले कमरे में प्रवेश करती हैं—

> गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः
>
> सुखासवामोदितवक्त्रपंकजाः।
>
> प्रकामकालागुरुधूपवासितं
>
> विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः॥

(ऋतु० ५, ५)

स्त्रियों के मुखों से वातायन भर गए। फिर तो उन मुखों और उनकी काली पलकोंवाली आँखों से ऐसा लगने लगा जैसे खिड़कियाँ कमलों से भर गयी हैं और उन पर नयन रूपी भौंरे मंडरा रहे हैं। कुतूहलभरी नारियों के मुख और उनके चंचल नयन! निःसंदेह डंठलों पर हिलते कमल और उन पर मँडराते भ्रमर! निश्चय उनके शराव पिये मुँह की मदिर गंध से आकृष्ट भौंरों को कमल की सुरभि न भायी, उसकी वास उनके मुखों में ही समा गयी।

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैः ।

फिर गर्मी के आलम के तो कहने ही क्या, जब सुगंधित जल से धोयी छत पर चाँदनी चमक रही हो, जब आधी रात के सूने में मदन को जगा देनेवाली वीणा की ध्वनि पसर रही हो, और प्याली में ढाली हाला प्रिया के उच्छ्वास से थर-थर काँप रही हो—तब तो भवन की छत ही आपानक बन जाती है—

सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं
प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु ।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं
शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥

(ऋतु० १,३)

नारियों द्वारा मुँह में शराब का कुल्ला भर कर बकुल वृक्ष का दोहद सम्पन्न करना और परिणामस्वरूप बकुल का कलिया उठना प्राचीन कवि-परम्परा है जिसका निर्वाह कालिदास ने भी किया है। उत्तर मेघदूत में यक्ष कहता है—उस क्रीड़ा-पर्वत पर कुरवक की पत्रच्छाया तले माधवी मण्डप है, पास ही कोमल पत्तियोंवाला चंचल अशोक है, वहीं कान्त केसर है, मनहर बकुल। दोहद के बहाने इनमें से एक मेरी प्रिया के बाएँ पैर की कामना करता है, दूसरा उनके मद्य के कुल्ले की—

एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥ (१५)

इसी प्रकार (रघुवंश के नवें सर्ग में) कान्ता के मुखासव (शराब के कुल्ले) से बकुल फूलता है (३०) और जब अग्निवर्ण अपनी प्रेयसी वेश्याओं के मुख से अपने मुँह में भरपूर मद्य ले लेता है तब वह दोहद से सम्पन्न बकुल सा प्रफुल्लित हो उठता है। (वही, १६, १२)

कालिदास का ऋतुसंहारी नववय वसन्त ऋतु में नारी के मदिरालस चंचल नेत्रों में मदन का निवास मानता है (ऋतु०, ६, १०)। मदिरा का विलास, कवि की राय में, नारियों को

अद्भुत सौन्दर्य से मंडित कर देता है। उसका तनिक आधिक्य नवयौवनाओं और नववधुओं में लज्जा का बन्ध खोल देता है जिससे प्रणयी और पति का विलास-प्रयास सफल हो जाता है। कवि रघुवंश के नवें सर्ग में वसन्तागम के प्रसंग में कहता है कि शिशिर के बीत जाने पर वसन्त लक्ष्मी ने जो पलाश को कलियों से भर दिया है तो लगता है जैसे मदात्यय (मदिरा के आधिक्य) से लज्जारहित हो प्रमदा ने प्रणयी के तन पर नखक्षत बना दिये हों—

> उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
> प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया॥ (३१)

मद्य का उपयोग किस प्रकार नारी को नर की प्रियतरा और उसके विलास में सक्रिय सहायक बना देता है, इसका एक वर्णन इस प्रकार है—मधु स्मरसखा है, काम का सहचर, कामोद्दीपक, मधुर विलास का संघटयिता, सुरत क्रीड़ा के प्रवाह का अद्भुत प्रसारक (हाव-भाव को उकसानेवाला)। बकुल को भी अपनी गन्ध से हरा देनेवाले उस मद्य को जो, रस को खण्डित नहीं करता, उसकी धार बनाये रखता है, प्रमदाओं ने बिना झिझक के पति के प्रणयानन्द में बगैर बाधा डाले चुपचाप पी लिया—

> ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम्।
> पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम्॥
> (वही, ३६)

कालिदास के विचार से भौंह-संचालन की मदभरी प्रक्रिया मधु सेवन से ही सिद्ध होती है, जिससे उसके अभाव में यक्षी भ्रू विलास भूल जाती है (उत्तर मेघ, ३२)।

मदात्यय से बढ़े सौन्दर्य का उल्लेख कालिदास की विशद भारती में अनेक बार हुआ है। कुमारसंभव (३, ३८) में कवि कहता है—पसीने की बूंदों से किन्नरियों के कपोलों के चित्रलेख कुछ पुत गये, फूलों की शराब पीने से, शराब की मात्रा कुछ

अधिक हो जाने से पुतलियों के घूम जाने से ख़ुमारी छा गयी, बोझिल पलकें अलसा उठीं—जिससे मुख की शोभा और बढ़ गयी, फिर तो उनके प्रणयी किन्नर (किम्पुरुष) अपने को और न सम्हाल सके, उन्होंने गीत के बीच में ही झपट कर अपनी प्रियाओं के मुख चूम लिये—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे ॥

पार्वती के मद कुछ अधिक पी लेने से नयनों की पुतलियाँ घूम जाती हैं, आँखें कुछ बढ़ जाती हैं, बातें साफ़ नहीं निकल पातीं, चेहरे पर पसीने की बूँदें झलक जाती हैं, उस पर हल्की मुसकान छा जाती है। फिर ऐसे प्यारे मुँह को शिव मुँह से तो पीते ही हैं, आँखों से भी देर तक पीते रहते हैं—

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥

(वही, ८, ८०)

मद्य द्वारा नारी को इस स्थिति में, सौन्दर्य को इस विजयिनी-विजितावस्था में पहुँचा देनेवाला मदन जब शिव के कोप से भस्मीभूत हो जाता है तब उसकी प्रिया रति उचित ही विलाप करती है—कभी-कभी समय पर जब मदिरा के प्रभाव से लाल नयनों को घुमाना, बोलते-बोलते शब्द-शब्द पर लड़खड़ा जाना, चलते-चलते पैरों को ठाँव-कुठाँव डालने लगना, मदमस्त नारियों के लिए तुम्हारे रहते तो कुछ अर्थ रखते थे, पर वे ही अब तुम्हारे बिना व्यर्थ हो गए हैं (रतिफल मधु के अभाव में), विडम्बना मात्र बन गये हैं। वह वारुणीमद कैसा जो शरीर और वाणी को अस्थिर तो कर दे पर अपनी परिणति—कामाभिवृति—में चूक जाय, अपूर्ण रह जाय?—

नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥

(वही ४, १२)

मालविकाग्निमित्र (पृ० ४९) में अग्निमित्र की रानी इरावती इस क़दर पी लेती है कि उसके चरण ठीक-ठीक धरती पर नहीं पड़ते—ण में बलणां अण्णदो पवट्टन्ति। मदो मं विआरेदि। उसी नाटक में मद्यविकार का उपाय मत्स्यण्डिका नाम की एक प्रकार की चीनी का सेवन बताया गया है (पृ० ४२) जो शराब अधिक पी लेने की औषधि के रूप में 'मदात्ययचिकित्सा' आदि निदान प्रकरणों के अनुकूल है।

कालिदास के काव्य में जो समाज प्रतिबिम्बित है उसमें, लगता है, मधुपान सामान्य आचार था। कवि के दाम्पत्य विलाप का यह प्रायः प्रथम प्रसंग होता था। उसके उदाहरणों से प्रकट है कि नववधू की लज्जा दूर कर उसके साथ निर्बाध रमण करने में मद्य विशेष सहायक होता था। दाम्पत्य के आदि प्रतीक स्वयं शिव-पार्वती का गन्धमादन विलास, जो कुमार-सम्भव के आठवें सर्ग में विशद वर्णित है, इस दिशा में प्रमाण है। पार्वती की लज्जा निःसन्देह उनके रमण में बाधक है, इससे गन्धमादन का देवता स्वयं सूर्यकान्तमणि के लाल मधुपात्र में कल्पवृक्ष के फूलों से प्रस्तुत मधु (मद्य) लेकर पार्वती को पिलाने के लिए उपस्थित होता है (५७)। तब 'अनंगदीपन' उस मधु को शिव भी पीते हैं, अम्बिका को भी पिलाते हैं (७७) और उसे पीने का जो परिणाम होता है, उससे जो शरीर-व्यापार में विक्रिया आ जाती है उससे शिव का लाभ होता है (७८)—पार्वती लज्जा छोड़ दोनों के वश में सहसा चली जाती है, मद्य के भी, शिव के भी (७९)। और इसके बाद के प्रकरण में शायद वह स्थिति आ जाती थी जिसमें पति और पत्नी दोनों एक-दूसरे को अपने मुँह में रखी मदिरा पिलाते हैं। राजा अग्निवर्ण के मद्य-विलास का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसी के पूर्वज अज के विलाप से भी सिद्ध है कि किस प्रकार वे अपनी पत्नी इन्दुमती के मुँह से अपने मुँह में शराब ले लेते थे और अपने मुँह की उसे पिलाते थे—मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा (रघु०,८, ६८)।

अधिक हो जाने से ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हथिनी अपने प्रिय गजराज को पंकजरज से सुवासित जल को थोड़ी देर मुँह में रखकर सूँड़ से पिलाती है—

ददौ रसात्पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः

जैसे आधा लाया हुआ कमलदण्ड चकवा अपनी प्रिया चकवी को खिलता है—

अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां संभावयामास रथांगनामा

(कुमार०, ३, ३७)

ठीक उसी प्रकार जैसे भ्रमर कुसुम के एक ही पात्र में मधु ढाल पहले प्रिया भ्रमरी को पिलाता है, फिर पीछे उसी में जूठा आप पीता है—

मधु द्विरेफः कुसुमकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः,

और ज़ब प्राणि मात्र के जोड़ों का यह हाल है तब मधु के निर्माता स्वयं मानव दम्पति का क्यों न हो !

१३

ऋतुसंहार की भावभूमि

ऋतुसंहार की भावभूमि उसकी ऋतुभूमि है। संसार के कवियों में मूर्धन्य कालिदास के दूसरे प्रौढ़ काव्यों की तुलना में निःसन्देह ऋतुसंहार नितान्त गौण है, संस्कृत के ही अन्य कवियों की कृतियों से कहीं घटिया। इसीसे कुछ विद्वानों ने उसके कालिदास की कृति होने में भी सन्देह किया है, यद्यपि सन्देह करने के लिए विशेष स्थान है नहीं। कारण कि पहले तो इस कवि की अन्य कृतियों के और इसके पदविन्यास में पर्याप्त समता है, दूसरे इससे भी कि सभी कवियों के रचनाक्रम से उनका विकास होता है, कालिदास का भी विकास हुआ है, जिससे ऋतुसंहार को कुमारसंभव या शाकुन्तल के साथ समभूमि पर रखना समीचीन नहीं। फिर अमरटीकाकार मल्लिनाथ ने—जिसने 'नामूलं लिख्यते किंचित् नानपेक्षितमुच्यते—लिखकर अपनी विवेक बुद्धि का परिचय दिया है, उसपर टीका लिखी है, जिससे उसका प्रामाणिक होना सिद्ध है।

फिर एक असाधारण बात ऋतुसंहार के संबंध में उल्लेखनीय यह है कि कालिदास के पहले न केवल भारत के बल्कि संसार के किसी साहित्यिक कवि ने मात्र ऋतुओं पर एक समूचा काव्य नहीं लिखा। प्रकृति विलास तो एकान्त भारतीय है और

कालिदास से पूर्व के वाल्मीकि आदि अनेक कवियों ने अपने काव्यों में प्रकृति का उल्लसित वर्णन किया है, कालिदासोत्तर काल के कवियों का तो उनकी परम्परा में लिखना प्रमाण ही बन गया है, पर कालिदास से पहले किसी भारतीय कवि ने भी मात्र प्रकृति के भाव-विलास पर कविता नहीं की थी। उस दिशा में कालिदास आदिकवि थे।

छहों—ग्रीष्म, पावस, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त—ऋतुओं का एकत्र और केवल उन्हीं का वर्णन निश्चय असामान्य प्रतिभा की सूझ थी। और यह तथ्य होते हुए भी कि कवि की अन्य रचनाओं में आये समानान्तर ऋतुप्रसंग ऋतुसंहार के समान प्रसंगों से शक्ति और भावों की शुद्धता में कहीं आदय है, ऋतुओं के मात्र और एकत्र वर्णन कवि-कार्य की प्रखरता को प्रमाणित कर देता है।

साधारण दृष्टिगम्य प्रकृति पर काव्यविन्यास के संदर्भ में लिखना एक बात है—यद्यपि वह स्तुत्य निःसन्देह हो सकती है—केवल प्रकृति को ही आलेख्य-केन्द्र मान उस पर लिखना बिलकुल दूसरी। ऋतुओं का वर्णन उनकी प्रकृति (स्वभाव) को चिरसंज्ञा की अपेक्षा करता है। सर्ग-सर्ग में न केवल प्रकृति कारण, उसका वातावरण, शीतोष्ण परिवेश बदलता जाता है बल्कि उसके पशु-पक्षियों-पक्षधारियों, तृण-पल्लवों, तरु-कुसुमों की प्रवृत्ति, प्रकार, उदय-अन्त सभी में ऋतु के साथ ही परिवर्तन होता जाता है, उनके द्रष्टा मनुष्य की अनुभूति में तो पड़ता ही जाता है। उस दृष्टि की शक्ति को निभा जाना बड़े-से-बड़े कवि के लिए भी स्तुत्य है।

कालिदास ने न केवल ऋतुओं के निरन्तर बदलते जाते वैभव को देखा और उसका वर्णन किया है, बल्कि मानव प्रकृति के ऊपर उसके प्रभाव का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया है। फिर केवल मनुष्य ही नहीं, सारा चराचर अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ उनकी रचना के आयाम में प्रवेश पाता है। प्रत्येक जीव

पर, पर्वत-जलधाराओं पर, दृश्य और अव्यक्त जगत् पर नये वातावरण का प्रभाव पड़ता है, उन सब की संज्ञा मेधा में एकस्थ रखना आसान नहीं। प्रत्येक ऋतु के पक्षी भिन्न होते हैं, तरु-लताएँ भिन्न होती हैं, उनके फूलने-फलने के समय भिन्न होते हैं। उन सबको ऋतु-विशेष से संयुक्त करना कठिन कार्य है। कालिदास ने अपने उस अनन्त और सूक्ष्म ज्ञान-संचय का लाभ ऋतुसंहार के माध्यम से अपने पाठकों को कराया है। अनेक लोगों ने सीधे प्रकृति के दर्शन से नहीं ऋतुसंहार के माध्यम से ही, कौन कुसुम निश्चय किस ऋतु का दान है (इस बहुउपेक्षित काव्य से ही), सीखा है। केवल उस प्राय: सवा सौ छन्दों के छः सर्गों से ही भारतीय तरु-लताओं और पुष्पों के अनन्त आकर पर समूचा ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

ऋतुसंहार की निसर्ग सम्पदा तो बड़ी है ही, उसके सामाजिक, सांस्कृतिक संसार का भी परिवेश बड़ा है। नागरिक-नागरिकाओं के दैनन्दिन प्रसाधनादि का सैद्धान्तिक वर्णन तो वात्स्यायन ने कामसूत्रों में किया है पर उनकी प्रयोगप्रधानता, जीवन में उनके उपयोग द्वारा, कालिदास ने ही ऋतुसंहार में प्रकट की है। यह काव्य कवि-कौतुक है। इसमें सिद्धान्त के भारी-भरकम पक्ष नहीं सिद्ध किये गये, हल्के-फुलके माहौल में मानव अपनी भौतिक-पार्थिव सजीवता में प्राणवान् हो यथेच्छ विहरता है, न उसमें वर्ग है, न वर्ण है। पहली बार, बस एक ही काव्य में कालिदास का वर्णाश्रम संकोच मुखरता ही हुआ है। ऋतुसंहार का मानव मात्रमानव है। न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र:—न ऊँच है न नीच, सर्वत्र निर्बन्ध विचरण करने-वाला प्राणी है।

पर इससे भिन्न ऋतुसंहार का काव्य भी कुछ असुन्दर नहीं है। उसका छन्द, उसकी भाषा, उसका प्रबन्ध ऐसा है जो आलेख्य भावों की सूक्ष्मता और वर्णन के भार का वहन आसानी से कर सकता है। उसकी पदावलि कोमल है, उसकी शैली ललित

और वृत्ति अधिकतर वैदर्भी है। सरल छोटे-छोटे शब्दों में विषय जैसे अनावश्यक को तजकर छनकर प्रस्तुत होता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये गये हैं जिनसे इस काव्य के प्रवाह और इसकी वर्णन-शक्ति का कुछ प्रमाण मिलेगा।

प्रसाद गुण और वैदर्भी वृत्ति का एक उदाहरण यह है—

सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां
सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमा :।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं
निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥ (१, ९)

रात में धवल प्रासादों की खुली छतों पर निद्राभिभूत नारियों के अभिराम मुखों को चन्द्रमा चिरकाल तक उत्कंठित निहारता रात्रि के अवसान में लज्जा से पीला पड़े जाता है। छन्द का लालित्य कितना स्पृहणीय है, कहना न होगा।

गर्मियों में पहाड़ों पर दावाग्नि बहुत लगती है। उसे प्रवल पवन प्रेरित करता है और कान्तार का कान्तार भस्म हो जाता है। ऐसी ही एक दावाग्नि का वर्णन कवि करता है—

विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा
प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्।
तटविटपलताग्रालिंगनव्याकुलेन
दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन ॥ (१, २४)

टटके खिले कुसुम की सिन्दूरी आभा लिये, तेज़ चलते प्रवल पवन से प्रचालित, तीर के तरुलताओं को अपने आलिंगन में बाँधने को आकुल पावक (अग्नि) ने प्रत्येक दिशा की भूमि जला डाली है। पवन और पावक का वेगवान सांनिध्य होने से कवि ने यहाँ अनुकूल समस्त पदों का उपयोग किया है। पर पावक जब उछल-उछलकर अपनी लपटों द्वारा वस्तुओं को जलाने लगता है तब उसके प्रसार में एक लय बँध जाती है। एक के बाद एक वस्तु को पकड़ने में अग्नि को तब नटवत् लघु पदों से सरकना होता है। आगे का श्लोक उसी का परिचायक है—

ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु
स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु ।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन
ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः ॥ (२५)

पवन के योग से बढ़ता हुआ दावानल पर्वतों की कन्दराओं में जल रहा है। सूखे बाँसों की स्थलियों में फट-फट की आवाज़ करती दावाग्नि रह-रह कर भड़क उठती है, फिर क्षण भर में ही वह तृणों के जंगल में पसर चलती है, उसे साफ़ कर देती है, और सहसा वन के किनारे लगे मृगों के समूह को व्याकुल कर देती है।

बहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु
स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम् ।
परिणतदलशाखानुत्पतन्प्रांशुवृक्षा-
न्भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते ॥ (२६)

वही अग्नि सेमल के वनों में फैल कर और भी भयंकर रूप धारण कर लेती है। उन विशाल वृक्षों के कोटरों में कंचन वर्ण की उसकी लपटें ललक-ललक कर लपकती हैं और पवन द्वारा प्रबल प्रेरित वह अग्नि विशाल वृक्षों को उनकी पकी पत्तियों और डालियों समेत गिराती वन में चारों ओर पागल-सी घूम रही है। पशुओं की स्थिति करुण है—

गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहाः
सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय ।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षा-
द्विपुलपुलिनदेशान्निम्नगां संविशन्ति ॥ (२७)

समान विपत्ति के शिकार पशु फिर तो प्रकृत्यमैत्री भूल जाते हैं। अग्नि से जलते परस्पर वैरभाव भूल गज, नीलगाय, और सिंह मित्रभाव धारण कर उस जलाती अग्नि से त्राण पाने के लिए गिरि-गह्वरों से निकल शीघ्र नदी तट की फैली वालुका-भूमि में एक साथ शरण लेते हैं।

स्वयं कालिदास की कृतियों में भी कहीं दावाग्नि का ऐसा प्रखर वर्णन नहीं हुआ है। और इस दावाग्नि से, उसके संताप से त्राण पाने के लिए, बड़ी चतुराई से अगले ही श्लोक में, कवि उस प्रान्त के मानव निवासियों को छत की चाँदनी में शरण लेने की सलाह देता है—

> कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः
> सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः ।
> व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो
> निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ॥ (२८)

हे सुललितगीते, कमलों के वन से व्याप्त जल जिसमें प्रिय होता है, पाटल पुष्पों की गन्ध जिसमें रमणीय होती है, जिस काल जल से स्नान सुखकर लगता है, चन्द्र-किरणें और कुसुम-मालाएँ इष्ट होती हैं, उस निदाघ काल की रात्रि में भवन की छत पर (चाँदनी) होती है, उस निदाघ काल की रात्रि में भवन की छत पर (चाँदनी में) कामिनियों सहित रमण करते सुखपूर्वक बिताओ (भोगो)।

वर्षाकाल अपने हज़ार गुणों से रमणीय होता है, कामिनियों का चित्त अपनी रमणीयता से हर लेता है, तरु-शाखाओं और लताओं का तो वह निर्विकार मित्र है, स्वार्थरहित मात्र उपकारी, जीवधारियों के लिए तो सर्वथा जीवनस्वरूप ही है—ऐसा वर्षाकाल तुम्हारी इष्ट कामनाओं को पूरा करे ! इस आशीर्वचन को मूल में पढ़ें—

> बहुगुणरमणीयः कामिनीचित्तहारी
> तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकारः ।
> जलदसमय एष प्राणिनां प्राणभूतो
> दिशतु तव हितानि प्रायशो वांछितानि ॥ (२, २८)

वैसे तो सारा चराचर वसन्त द्वारा प्रभावित होता है, कालिदास को भी वह प्रिय है, परन्तु ऋतुविशेष के साथ उनका मोह या पक्षपात नहीं। प्रत्येक ऋतु की विशिष्ट आढ्यता का

उन्होंने वर्णन किया है। ऋतु संबंधी सर्ग के पहले ही श्लोक में वे उस काल की विशेषताओं की सूचना दे देते हैं, फिर धीरे-धीरे उसका अन्तरंग सर्ग के प्रसार के साथ-साथ खोलने लगते हैं और अन्त के श्लोक में ऋतुविषयक सुख का आशीर्वाद करते हैं। नीचे के श्लोक में रूपरम्या वधू की-सी आयी शरद् ऋतु का जगत् प्रायः इस प्रकार है—

> **काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो**
> **हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि।**
> **सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः**
> **शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः॥** (३, २)

मधुर लघु पदों में एक ही 'स्वीप' (साँस) में कवि ने शरद् की विशेषताएँ प्रकट कर दी हैं, सारे श्वेत पुष्पों का कवि ने इसमें उल्लेख किया है, काश का, चन्द्रकिरणों, हंसों का, कुमुदों, सप्तपर्ण पुष्पों का—काश-पुष्पों द्वारा पृथ्वी, चन्द्रकिरणों द्वारा रातें, हँसों द्वारा नदियों के जल, श्वेत कमलों (कुमुदों, कोईं) द्वारा सरोवर, पुष्पभार से लदे सप्तपर्णों के कुसुमों द्वारा वनों के छोर, और मालती के फूलों द्वारा सारे उपवन शरदृतु में श्वेत हो गए हैं, प्रकृति ने जैसे सफ़ेद चादर ओढ़ ली है ऐसी स्थिति में, शरद् की अभिराम फ़िज़ाँ में जब नयन सुखद हियहर किरण-घन आह्लादक शीतल सीकर (जलकण) बरसा रहा हो तब भला प्रोषितपतिकाओं की क्या गति होगी ? निश्चय प्रियों से वियुक्त, उस वियोग रूपी विषसिक्तशर से घायल अंगनाओं के तन को शरद् का चन्द्रमा अतिशय जलाने लगता है—

> **नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः**
> **प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्षी।**
> **पत्युर्वियोगविषदिग्धशरक्षतानां**
> **चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमंगनानाम्॥** (९)

पदावलि कितनी सरल, कितनी कर्णसुखद है !

उस ऋतु में शेफालिका (निर्गुण्डी) की मनोहारिणी गन्ध,

जलों पर स्वस्थ विराजते पक्षीदलों के कलरवों की अभिनव गूँज, छोरों पर फिरती मृगियों के कमलनयनों की शोभा उद्यानों को भर देती है, पुरुष का उदार भावुक कोमल मन सहसा उत्कण्ठित हो उठता है—

शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि
स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।
पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि
प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥ (३, १४)

शरत्काल डैनों पर कोई-कमलों की रज लिये शीतल वायु बहती है, घनों के अदृश्य हो जाने से दिशाएँ निर्मल कान्तिमयी हो उठती हैं, जलधाराओं-सरों का जल चमक उठता है, धरित्री पंकहीन निष्कलुष हो जाती है, आकाश विमल किरणोंवाले चन्द्रमा और सुन्दर तारिकाओं से विहँस उठता है—

शरदि कुमुदसंगाद्वायवो वान्ति शीता
विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञाः ।
विगतकलुषमम्भः श्यानपंका धरित्री
विमलकिरणचन्द्रं व्योमताराविचित्रम् ॥ (२२)

शरद् के बाद, क्वार-कातिक वीतने पर, हेमन्त आता है, वातावरण समूचा बदल जाता है—अन्न के पौधे अंकुरित हो जाने पर नये पल्लव धारण कर रमणीय हो जाते हैं, लोध फूल उठते हैं, शालि के धान पक जाते हैं, हिमपात होने लगता है, पाला पड़ने से पद्म विलीन हो जाते हैं, सरों में अदृश्य—जानो, कि अब हेमन्त आ गया है—

नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः
प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः ।
विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो
हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥ (४, १)

फिर तो नारियाँ सुरतोत्सव के लिए सज उठीं—जायक के अनु-लेप से उन्होंने अपने गात लेपे, मुखपद्मों को विशेषकों (पत्र-

लेखों) से चमका दिया, कस्तूरिका पत्रावली उन पर सोहने लगी, कालागुरु के धुएँ से उन्होंने अपने केश बासे, मदन की ध्वजा फहरा उठी—

गात्राणि कालीयकचर्चितानि
सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि
कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥ (५)

पद गेय है, मधुर और चित्रायित ।

शिशिर हेमन्त से परे है, इससे भिन्न, माघ-फागुन की ऋतु । शिशिर शरद् से बहुत दूर जा पहुँचा । शरद् में चन्दन था, चन्द्र मरीचियाँ थीं । वैसे ही हेमन्त में तुषारशीतल बयार थी—अब वह बात न रही—ज़रा भाषा की रवानी पर ग़ौर करें—

न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं
न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला
जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम् ॥

चन्द्रमा की किरणों-सा शीतल न तो चन्दन ही हेमन्त में लोगों का मन मोहता है, न शरच्चंद्र की चन्द्रिका से धोयी प्रसाद की छत ही मोहती है और नाहिर घने पाले से शीतल बयार ही जनों का रंजन करती है ।

वसन्त का संभार कवियों का प्यारा है, जगत् के जीवों का प्यारा । तब का संसार कितना कमनीय होता है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं
स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः
सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥ (६,२)

तरु फूलों से लद गये हैं, जल पर कमल छा गये हैं, नारियों के अंगों से काम खेल रहा है, वायु गन्धबोझिल है, साँझें-रातें

सुखदायिका हो गयी हैं, दिवस रम्य। प्रिये, वसन्त ऋतु है, इसमें सभी चारुतर हो जाते हैं। कोई दो शब्द समस्त नहीं, एक-दूसरे से जुड़े नहीं, वैदर्भी का राज छन्द पर हावी है, भाषा एकान्त सरल है।

इस ऋतु संबंधी श्लोक तो एक-से-एक मधुर हैं। यहाँ केवल कुछ का ही उल्लेख कर सकना संभव है। वसन्त का आगम चराचर को प्रमत्त कर देता है। कवि कहता है—नरकोकिल आम की मंजरियों का रस पी मद से मत्त हो उठा है, राग से उन्मत्त हो वह प्रिया को चूमने लगा है। कमल के ऊपर बैठा कूजता यह भ्रमर भी प्रिया को रुचनेवाली वाणी में उसकी चाटुकारिता कर रहा है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन
मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः
प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु॥

अशोक वृक्षों की क्या स्थिति है? वे पल्लवों और मूँगिया रंग का कुसुम भार जड़ से चोटी तक धारे, देखते ही यौवनाओं के हिये में हूक उठा देते हैं—

आ मूलतो विद्रुमरागताम्रं
सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं
निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम्॥ (६, १६)

और अब कवि एक भेद की बात भी कह जाता है—हर्षोन्मत्त हो मस्त कलकण्ठ से नरकोकिल जो कूक उठता है, भौंरे जो मधुर मदिरायित वाणी से कूज उठते हैं तो असाधारण भी घट जाता है—कुलीन बहुओं के विनय से सधे लज्जाशील मन भी क्षणभर के लिए चलायमान आकुल हो उठते हैं—

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृंगैः।

लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥ (६, २१)

अन्त में कवि वसन्त संबंधी सर्ग और काव्य ऋतुसंहार को समाप्त करता गरिम शब्दों में वाचकों के शुभ की कामना कर विदा लेता है—

आम्रीमंजुलमंजरीवरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।
मत्तेभो मलयानिलः परभृतो यद्बन्दिनो लोकजि-
त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥ (२८)

आम की रुचिर मंजरियाँ जिसके तीखे बाण हैं, पलाश-कुसुम जिसका अप्रतिम धनुष है, भौंरों की पाँत जिसके उस धनुष की डोरी है, चन्द्रमा जिसका निष्कलंक धवल छत्र है, मलयानिल जिसका मत्त गज है, यशगायक वैतालिक जिसके कोयल हैं, वही लोकजयी अनंग मदन वसन्त के साथ तुम्हारा कल्याण करें !

यह अभिराम श्लोक सत्काव्य के लिए चुनौती है, ऋतुसंहार के सौन्दर्य की ध्वजा ।

●

२४

कालिदास और ललित कलाएँ

कालिदास का साहित्य परिणति का है। भाषा और साहित्य जब अपनी व्यंजना और संवेदनशीलता में पूर्णतः प्रौढ़ हो चुके थे तब उस महामना कवि का आविर्भाव हुआ। देश तब गुप्तों के ऐश्वर्य की रक्षा में मधुर और ललित को साध रहा था, ललित कलाएँ अपने विकास की चोटी चूम रही थीं। तब भाव और भाषा के महत्त्व के झगड़े न थे और रूप तथा संपाद्य का घना अन्योन्याश्रय था, दोनों एक-दूसरे से नितांत अभिन्न संपृक्त थे—वागर्थाविव संपृक्तौ।

कालिदास की भारती कितनी मुखर, कितनी स्वादु, कितनी अर्थगंभीर है, इसकी विवेचना पिछले प्रायः डेढ़ हज़ार वर्षों से होती आयी है, हम यहाँ उनके काव्यों में प्रसंगतः उल्लिखित ललित कलाओं की ओर संकेत करेंगे। स्वयं कवि ने "प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" में ललित कलाओं की ओर निर्देश किया है, यद्यपि उसके 'ललित' पद से बोध इतना कलाओं के अंतरंग का पारिभाषिक रूप से नहीं होता जितना कला के लालित्य का। और कला उस संदर्भ में संगीत को भी अपनी परिधि में घेर लेती है। संगीत भी उसका विशिष्ट अंग है और संगीत नर्तन, गायन और वादन के त्रिपद पर प्रतिष्ठित होता है यद्यपि नाट्यगत

अभिनय भी उसमें समाहित होकर उसकी चतुष्पद संज्ञा सार्थक करता है। शुक्रनीति आदि में परिगणित ६४ कलाओं की खुली चर्चा तो कालिदास में नहीं है पर यदि प्रत्यक्ष और परोक्ष उल्लेखों और संकेतों में खोजा जाय तो निःसंदेह पारंपरिक कलाओं पर महती सामग्री प्रस्तुत हो जायगी। स्वयं कवि ने उसको विशेष महत्त्व नहीं दिया है और सुरुचि की मान्यताओं की परिधि में आनेवाली ललित कलाओं का विशेषतः उल्लेख किया है जिनमें संगीत और अभिनय भी सम्मिलित हैं।

यह सही है, खोजसम्मत भी है, कि संगीत का सैद्धांतिक विकास और विवेचन विशेषतः बाद की सदियों में हुआ पर निश्चय गुप्त काल की समाकालीन पृष्ठभूमि में भरत मुनि की परंपरा के साथ ही सावधि चिंतन का भी योग था। 'मार्ग' अथवा शास्त्रीय पद्धति का अंतर अनिवार्यतः स्पष्ट हो चुका था और यद्यपि राग-रागिनियों का स्पष्ट उल्लेख तो कवि ने नहीं किया है पर उसने "भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां" में रियाज़ की परंपरा को ध्वनित किया है। इसी प्रकार अपने ग्रंथों के सैकड़ों स्थलों पर जो दबे और खुले तरीकों से उसने संगीत के विविध अवयवों का उल्लेख किया है उनसे भी इस कला की तत्कालीन समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है। उस कला की पृष्ठभूमि पर अभिराम वीणावादक महाकाय स्वयं समुद्रगुप्त खड़ा था जो उस काल की उस कलासाधना का मात्र प्रतीकतः प्रतिनिधि था। 'मालविकाग्निमित्र' के अपने प्रथम, प्रायः कमज़ोर पर साहसपूर्ण, प्रयास में ही दो-दो अंकों में संगीत और अभिनय पर जो कवि ने सिद्धांतपरक लाक्षणिक कथोपकथन किया है उससे चाहे कृति की नाटकीयता में रसभंग हो आया हो निःसंदेह उससे कला की पारंपरिक चेतना का विकास स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है। और जहाँ तक संगीत के नृत्य और नाट्य के अभिनय तथा शुद्ध ललित कलाओं के मूर्तन का एकस्थ संबंध है वह तो निम्नलिखित छंद से भी प्रकट है—

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥
(मालविका०, २, ६)

मालविका ने कटि पर अपना बायाँ हाथ टिका रखा है जिसका कड़ा हाथ के निश्चल पड़े होने से निस्पंद हो गया है; उसका दूसरा हाथ श्यामालता की शाखा की भाँति ढीला लटक रहा है; पैर के अँगूठे से नीचे फ़र्श की पच्चीकारी पर पड़े फूल को कुरेदते अँगूठे पर आँखें गड़ाए हुए है। निश्चय उसकी यह स्थिति नृत्य और अभिनय कला की स्थिति से कहीं सुन्दर है, विशेषकर इस कारण कि तन का ऊपरी भाग अब निरंतर नर्तन में गतिमान रहने के कारण अलक्ष्य नहीं ऊपर को सीधा खिंचा और स्थिर होने के कारण लक्ष्य और दर्शनीय हो उठा है।

मूक नृत्य में जो मुद्राओं द्वारा अंगांगों की भावव्यंजना थी उसमें संगीत का नर्तन और नाट्य का अभिनय दोनों समाहित थे। 'मुद्राएँ' मूर्तिकला के प्रतीकों को भी उद्भासित करती थीं। मथुरा के संग्रहालय में रखी शुंगकालीन पत्थर की एक खड़ी नारीमूर्ति कालिदास के छंद की विविध भंगिमाओं का प्रदर्शन करती है। लगता है जैसे वह मूर्ति देखकर सहसा कवि की कल्पना जाग्रत हो उठी है और उसने ऐसा छंद रच दिया है जो यदि मथुरावाली मूर्ति के नीचे लिख दिया जाय तो मूर्ति और छंद जैसे एक-दूसरे पर आश्रित सार्थक हो उठें। इस प्रकार की अनेक यक्षी मूर्तियाँ कालिदास के पहले शुंगकाल से कुषाण काल तक की तीन सदियों में निरंतर कोरी गयी थीं और निःसन्देह उनकी व्यंजना कवि की लेखनी में जा बसी थी।

रागों और रागिनियों का कालिदास द्वारा विशेष उल्लेख न होने से उनकी ओर संकेत मात्र किया जा सकता है। 'विक्रमोर्वशी' में कवि ने अनेक अपभ्रंश गेय पदों का प्रयोग किया है। (इन्हें

एक पारंपरिक भ्रम-दोष के कारण प्रामाणिक न मानकर कुछ लोगों ने प्रक्षिप्त माना है, केवल इस आधार पर कि अपभ्रंश प्राकृतों और प्रान्तीय जन-बोलियों के बीच का भाषागत व्यवधान है। हिंदी में तो यह दृष्टि विशेष बल पा गयी है, यद्यपि इसे मान्यता देने का कोई तर्कसम्मत कारण नहीं। कारण कि जैसे प्राकृतें जनबोलियाँ होकर भी प्रायः सदा से साहित्य की प्रौढ़ भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही हैं, अपभ्रंश भी, जनबोली होने के बावजूद, प्रौढ़ साहित्यिक भाषा रही है, स्वयं एक प्रकार की प्राकृत। और जैसे प्राकृतें संस्कृत के व्याकरण द्वारा संमत भाषा न होने के कारण, यद्यपि उनके अपने व्याकरण हैं, अनेक बार संस्कृत से पूववर्ती जनबोली मानी जाती हैं पर उनका उपयोग संस्कृत के समानांतर और उसके साथ-साथ सदा हुआ है, कोई कारण नहीं कि अपभ्रंश को हम 'अपभ्रष्ट' मानकर, प्राकृतों का तद्भव मानकर, उनका परवर्ती मानें और उनके लिए भाषा के विकास में एक विशेष युग की स्थापना करें। उसे अपभ्रष्ट अथवा तद्भव मानने से ही यह भ्रम उत्पन्न हुआ है वरना उसको प्राकृतों का एक रूप मानते ही उस स्थिति की भी कठिनाई लुप्त हो जाती है जिसमें संस्कृत और अपभ्रंश का साथ-साथ उपयोग अमान्य कर दिया गया है। वस्तुतः यह पूर्वोत्तर का संयोग नहीं समकालीन और समानांतर का है, और यह समझ लेने पर कालिदास की 'विक्रमोर्वशी' में एक साथ प्रयुक्त संस्कृत और अपभ्रंश की सावधि सत्ता में कोई संदेह नहीं रह जाता।) तब राग और रागिनियों के अस्तित्व का भी संकेत स्पष्ट मिल जाता है, यद्यपि रागों के अस्तित्व में संदेह का वैसे भी स्थान नहीं क्योंकि कम-से-कम उनमें से चार का उल्लेख स्वयं भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में कालिदास से प्रभूत पूर्व कर दिया था, और कालिदास भरत के नाट्यशास्त्र के प्रति अपनी जानकरी अनेकानेक प्रकार से प्रकट करते हैं।

कवि ने नृत्य-कला को 'प्रयोगप्रधान' कहा है, इसी से

उसका वर्णन भी उसने अभिनय के साथ-ही-साथ किया है। नृत्य की अनेक शैलियाँ कालिदास के समय प्रचलित थीं, जिनमें से एक 'पञ्चांगाभिनय' का उल्लेख कवि ने 'मालविकाग्निमित्र' में किया भी है। एक दूसरी शैली 'छलिक', अथवा (पाठभेद से) 'चलित', का उल्लेख भी कवि ने किया है। यह छलिक नृत्य चार पदोंवाले एक गीत के साथ-साथ उसी की परंपरा के अनुसार नाचा जाता था। वह गीत 'चतुष्पद' कहलाता था। चतुष्पद और छलिक का, गान और नृत्य के रूप में, प्रायः अन्योन्याश्रय संबंध था। टीकाकार काटयवेम का कहना है कि इस प्रकार के नृत्य में नर्तक अभिनय तो दूसरे का करता है पर प्रदर्शन अपने भावों का करता है। यहाँ नाट्य और नृत्य दोनों का संगम है जहाँ अभिनेता अपने से भिन्न स्थिति का अभिनय द्वारा पुनर्निर्माण करता है और अन्य तथा अन्यत्र की स्थिति को अपने में सजीव करता है। परन्तु ऐसा करते हुए वह केवल दूसरे का प्रतिनिधिमात्र नहीं बल्कि अपने भावों का प्रदर्शक भी है। छलिक नृत्य निश्चय कठिन शैली का था।

कालिदास ने समकालीन संगीत में प्रयुक्त होनेवाले अनेक वाद्यों का उल्लेख किया है। वीणा, मृदंग, तूर्य (तुरही), और वेणु या वंशी का प्रयोग होता था। वीणा और मृदंग के अनेकानेक पर्याय होने से प्रकट है कि उनके कई प्रकार तब तक निर्मित हो चुके थे। वीणा के कवि द्वारा प्रयुक्त पर्यायों में प्रधान हैं, तंत्री, वल्लकी, परिवादिनी आदि और मृदंग के पर्यायों में पुष्कर और मुरज।

नगरों और मन्दिरों तक में नर्तकियों और वाणिनी वेश्याओं का निरन्तर उपयोग होने से प्रकट है कि कवि के युग में किस प्रकार संगीत की वृत्ति करनेवाले पेशेवरों का एक समाज खड़ा हो चुका था जो इन कलाओं को साधता था।

विशुद्ध ललित कलाओं—चित्रकला और मूर्तिकला—का समसामयिक प्रतिबिंब कालिदास के वर्णन पर भरपूर पड़ा है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, कालिदास का प्रादुर्भाव तब हुआ था जब जीवन के सारे क्षेत्र भरे-पूरे थे और चित्र और मूर्ति-निर्माण की कलाएँ अपनी चोटी पर थीं। जीवन इतना बाहुल्य का नहीं था जितना चयन का था और उस चयन में सुरुचि का विशिष्ट योग था। बारीकबीनी और शबाहत ज़िंदगी की रूह थीं। प्राचीन काल में ललित साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में जितने प्रयास और प्रयोग हुए थे, कालिदास का सावधि गुप्त काल उनका पोषक था। अजन्ता के अभिराम भित्तिचित्र तभी बने थे। वैसे उनका आरम्भ तो शुंग काल में ही, प्रायः ६०० वर्ष पहले, हो गया था, परन्तु परिणति उनकी ५वीं सदी ईसवी में हुई। पत्थर की मूर्तिकला का आरम्भ भी मौर्य और प्राङ्मौर्य युग में हो चुका था और मौर्य काल में तो उसने एक असाधारण चिकनी राजकीय शैली का भी विकास किया था। फिर शुंगों के शासन में, दूसरी और पहली सदियों ई० पू० में तो स्तूपों की रेलिंगों पर अनन्त मूर्त संपदा उभार कर बिखेर दी गयी थी। परन्तु औदार्य के ऊपर सुरुचि का, सूक्ष्मता और भावप्रवणता का मूर्तन अब इस गुप्त काल में हुआ। मथुरा, सारनाथ और तक्षशिला के कलावंत अमरावती से वामियान तक अपनी छेनी का जादू मूर्तियों के रूप में फेंकते चले जा रहे थे। उन्हीं दिनों पीतल, ताँबे और काँसे की मूर्तियों की ढलायी में धातु-कार्य ने अद्भुत प्रगति की जिसके प्रमाण कुर्किहार की धातु-मूर्तियाँ हैं। कुतुबमीनार की छाया में, रायपिथौरा के आँगन में लोहे की जो लाट खड़ी है, जिसे अनंगपाल की कीली कहते हैं, और जिस पर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के पौरुष की प्रशस्ति खुदी है—तीर्त्वा सप्त-मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका—वह उसी गुप्त काल में खड़ी हुई। उसको खड़े हुए आज प्रायः डेढ़ हज़ार साल हो गये पर धूप और मेह का क़तयी असर उस पर नहीं हुआ और प्रकृति के क्रूर प्रहारों के बावजूद आज भी वह अपनी धातु की सच्चाई की घोषणा कर रही है।

मृण्मूर्तियों का इतिहास भी कुछ इसी प्रकार का है। सामूहिक प्रजनन के रूप में उनकी सी प्राचीन न तो पत्थर और धातु की मूर्तियाँ हैं और न लिखे हुए चित्र ही। मौर्यों से बहुत पहले, जब अभी चित्रण और मूर्तन का दूसरे क्षेत्रों में विकास नहीं के बराबर हुआ था, हाथ से बनायी-सँवारी, आग में पकायी, मिट्टी की मूर्तियाँ मातृदेवी की पूजा के लिए उपयोग में आने लगी थीं। फिर उन्हें साँचे का भी योग मिला और अन्त में वर्ण का भी। मौर्य और शुंग काल के सुन्दर आकृतियों से सजे, बिखरे फूलों की भूमि से उभरे मिट्टी के ठीकरे गुप्तकाल में साँचे से सब ओर से ढलकर मूर्ति से रूप में 'सर्वतोभद्रिका' बन गये। मनुष्य की काल्पनिक आकृति ने गुप्तकाल में अपना वास्तविक प्रकृत रूप पाया। मृण्मूर्तियों का सुरुचिजन्य व्यापक समुदय हुआ। बच्चे अत्यन्त आकर्षक मूरतों से खेलने लगे। सुरुचि और सुकाव्य के प्रतिनिधि सुकवि कालिदास ने भी अपनी नितांत सुकुमार और अभिराम रचना शाकुन्तल में नायिका के सुवन भरत को 'वर्ण-चित्रित मृत्तिकामयूर' दिया। वह युग की आत्मा थी जो कवि की भाषा में बोली जैसे अजन्ता के भित्तिचित्र कवि के वर्णनों में 'सद्मसु चित्रवत्सु' के-से पदों पर अपनी छाप छोड़ गये।

कालिदास ने चित्रकला के प्रति जितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संकेत किये हैं उनका उल्लेख करने के लिए एक समूचे ग्रंथ की आवश्यकता होगी। यहाँ केवल एकाध स्थलों का उल्लेख बस कर सकना संभव है—चित्रशाला, प्रत्यग्रवर्णरागां, सद्मसु चित्रवत्सु, सचित्राः प्रासादाः, विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम्, द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ, सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन, प्रतिकृतिं, मत्सादृश्यं भावगम्यं लिखन्ति, आलेख्य वानर इव, लिखिता सा शकुन्तला, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग, पूरितव्यं कदम्बैः, कुसुमरसः मधुकरः तिस्रस्तत्र भवन्त्यो दृश्यन्ते, चित्रगतायां आसन्नदारिकां, अपूर्वेयं आलिखिता, चित्रपरिचयेनांगेषु। इनमें प्रतीकतः अनेक प्रकार के चित्रों का संकेत निहित

है। सद्मसु चित्रवत्सु, सचित्राः प्रासादाः, विमानाग्रभूमिराले-ख्यानाम्, द्वारोपान्तौ लिखितवपुषौ शंखपद्मौ, सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन, आदि भित्तिचित्रों का उल्लेख करते हैं। कालिदास ने अपने समकालीन अजंता और बाघ की गुफाओं के चित्र स्वयं देखे होंगे और अतिरिक्त उनके साधारण वास-गृहों में भी दीवारें चित्रों से भर दी जाती रही होंगी। उनका स्पष्ट उल्लेख 'विमानाग्र-भूमिरालेख्यानाम्' में है जो अजंता और बाघ की ओर नहीं नागरिकों के सामान्य भवनों की ओर संकेत करता है। द्वार के दोनों तरफ़ ऊपर शंख और पद्म का चित्रण प्राचीन परम्परा है जो आज भी गाँवों में अनेकधा जीवित है यद्यपि उनकी सुरुचि अब समाप्त हो चुकी है और उनका स्थान अधिकतर भद्दी शक्लों के समुदाय, विशेषकर अंग्रेज़ी नकलों ने ले लिया है। इन्द्रधनुष का चित्रण अथवा प्रधान द्वार के मुखालिंद को तोरण के रूप में गढ़कर द्वार सजाना तब की आम बात थी।

भित्तिचित्रों के अतिरिक्त दृश्यचित्रण या लैंडस्केप और समूह चित्रण या ग्रुप-पेंटिंग और प्रतिकृति चित्रण या पोर्ट्रेट पेंटिंग का भी कालिदास ने ज़िक्र किया है। दृश्य को चित्र-फलक पर बहुविध लिखकर उसकी अग्रभूमि और पृष्ठभूमि को कदम्बों अथवा दूसरे पारंपरिक वृक्षों से भरना दृश्यचित्रण का एक रूप था। कुसुमरसः—दृश्यन्ते, समूहचित्रण का दृष्टान्त है जिसमें शकुन्तला, प्रियंवदा और अनसूया चित्रित हैं और कुसुमरस का चोर मधुकर शकुन्तला के अधरों की ओर ललचाये डंक चलाये जा रहा है। उसी प्रकार का चित्रण चित्रगतायाः—आसन्नदारि-काम् द्वारा निर्दिष्ट है जिसमें पास खड़ी दासी का चित्र में आलेखन हुआ था। प्रतिकृतियों का उल्लेख तो कालिदास ने अनेक बार किया है। स्मृति से, बिना माडल के, प्रिय का चित्रण करना ही, 'मत्सादृश्यं भावगम्यं लिखन्ती' में ध्वनित हुआ है। 'लिखिता सा शकुन्तला,' 'अपूर्वेयं—आलिखिता', और 'आलेख्य वानर इव' आदि में भी उसी प्रतिकृति चित्रण का विन्यास है। कश्मीर

में छोड़ी प्रिया से दूर मध्यप्रदेश के दक्षिण रामटेक के पास रामगिरि पर अपने प्रवास के कठिन दिन काटनेवाला विरही यक्ष चट्टान पर गेरु से प्रिया का चित्र बनाकर अपने एकाकी और कल्पसम क्षणों को भरता है—

> त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
> मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
> अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
> क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥ (४२)

शिला पर मान करती हुई तुम्हें गेरु से चित्रित करता हूँ पर जब तक तुम्हारे चरणों में मानभंजन के निमित्त माथा टेके अपना चित्र लिखना चाहता हूँ तब तक आँखें भर आती हैं और दृष्टि-पथ लुप्त हो जाता है, चित्र अधूरा रह जाता है। क्योंकि क्रूर विधि बाएँ है और चित्र तक में हमारा समागम उसे स्वीकार नहीं।

केवल पिण्ड-चित्रण का प्रचलन देश में न था बल्कि सूक्ष्म नितांत भावपरक चित्रों का भी आलेखन होता था जिनमें चित्त-वृत्ति की रागबद्धता चक्षुगम्य कर दी जाती थी। 'रागबद्धचित्त-वृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग' में उसी शैली की ध्वनि है। इस प्रकार के भावप्रधान एक चित्र का उल्लेख शाकुन्तल के छठे अंक में हुआ है जहाँ दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाता है—

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
> शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
> शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥ (१७)

दुष्यन्त कहता है—ऐसा चित्र बनाना चाहता हूँ जिसमें कण्वाश्रम की मालिनी का स्रोत वह रहा हो, उसकी धारा के दोनों ओर दूर तक रेत फैली हो जिसपर डोलते हंसों के जोड़े अपने पद-चिह्न छोड़ते चले गये हों, जिस धारा के दोनों ओर हिमालय की पर्वतमालाएँ दौड़ गयी हों और उन पर हिरनों के झुंड बैठे हों।

चाहता हूँ कि एक ऐसा तरुवर उस चित्र में लिखूँ जिसकी शाखाओं से वैखानसों के वल्कल वस्त्र लटक रहे हों और जिसके नीचे बैठी मृगी अपने कृष्णसार मृग के कठोरतम अंग सींग से अपने मर्मतम वाम नयन को विश्वासपूर्वक खुजा रही हो।

निःसंदेह साहित्य यह 'अभिप्राय' (मोटिफ़) कला के लिए प्रस्तुत कर रहा है जो शब्दों की भावभूमि से उठकर चितेरे की तूलिका द्वारा रागरंजित हो आलेखन का प्रतीक हो उठेगा। इसी प्रकार का एक दूसरा शाब्दिक 'अभिप्राय' शाकुन्तल के उसी अंक के अगले श्लोक में इस प्रकार प्रस्तुत है—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ (१८)

दुष्यन्त कहता है—अभी, मित्र, चित्र में बहुत कुछ बनाना है—अभी तो कानों से नीचे गालों तक सिरस के कोमल फूल भी नहीं लटकाए जिनसे पराग-झर-झर कर कपोलों से सट जाता है, और ना ही स्तनों के बीच शरद्कालीन चन्द्रमा की किरण-सा सुकुमार पद्म-सूत्र ही रचा।

इस प्रकार साहित्य और कला के क्षेत्र में समान लाक्षणिक शब्दों, समान भाव-व्यंजनाओं, समान प्रतीकों और समान 'अभिप्रायों'का उपयोग हुआ है। यही कारण है कि क्लासिकल, रोमैन्टिक, रियलिस्टिक, इम्प्रेशनिस्टिक, क्यूबिस्टिक, सुर्रियलिस्टिक, सोशलरियलिस्टिक, रोमनेस्क, अरबेस्क, गोथिक और बरोक तक के लाक्षणिक संकेत साहित्य और कला की त्रिविध शैलियों को स्पष्ट करने के लिए दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होने लगे हैं। यही कारण है कि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में शुक्रनीति के प्रयोग कला सम्बन्धी संकेत-शब्द 'शिथिलसमाधिदोष' का व्यवहारतः साहित्य के हृदय में चित्रण की अभिव्यक्ति के

लिए किया है। 'चित्रशाला' में सूखने के लिए टँगा गीले रंगों का (प्रत्यग्रवर्णरागां) मालविका का चित्र पहले अग्निमित्र को अतिरंजित लगता है। पर वही, मालविका से साक्षात्कार हो जाने के बाद 'शिथिलसमाधिदोष' का प्रमाण लगता है। कलाकार से आशा की जाती थी कि आलेख्य चित्रित करने या कोरने से पहले वह समाधि में बैठे और कार्य पर मनोवृत्ति केन्द्रित करे, फिर जब लक्ष्य अपने सर्वांग से कलाकार की दृष्टि में उठ आये तभी वह उसका चित्रण करे वरना वह शिथिलसमाधि का दोषी हो जाएगा। सावधि चित्रकार शुक्रनीति के इस सिद्धान्त और कालिदास की इस प्रयुक्त पद्धति का बहुशः प्रयोग करते थे।

मूर्त्तिकला का यहाँ कुछ विस्तार से उल्लेख करना उचित होगा, यद्यपि कवि के वर्णन-परिवेश के अनुपात में फिर भी वह उल्लेख सर्वथा समीचीन न हो सकेगा। निःसन्देह प्रत्यक्ष रूप में तो मूर्त्तिकला की ओर कवि का संकेत अपेक्षाकृत कम हुआ है, अप्रत्यक्ष रूप में उसके प्रति उल्लेख कुछ कम नहीं है।

मयूरों का स्वप्निल हो वासयष्टि पर उत्कीर्ण मयूरों का-सा लगना कवि के मन भाया है (विक्रमो०, ३, २)। कवि ने निश्चय कुषाणकालीन (मथुरा, लखनऊ के संग्रहालयों में सुरक्षित) स्तंभगत नग्न और विभिन्न मुद्राओं में रेलिगों पर खड़ी उत्कीर्ण यक्षी मूर्तियों को देखा होगा वरना उसके लिए किसी प्रकार यह लिख सकना संगत न होता कि रेलिंग स्तंभों पर बनी नारी प्रतिमाओं के उत्तरीयों के वस्त्र धूल से लुप्त हो जाने पर अब उन पर रमते सर्पों की केंचुलें ही उनके ऊर्ध्वाधों को ढकने वाले उत्तरीय बन गयी हैं—प्रकट ही यह संकेत 'बासो रिलीवो' में उत्कीर्ण यक्षिणियों के प्रति है—

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः।

(रघु० १६, १७)

प्राय: कवि के ही जीवन-काल में, अथवा उससे केवल सौ-पचास वर्ष ही पहले गंगा-यमुना की मकर-कच्छप पर खड़ी चँवरधारिणी मूर्त्तियों का मूर्तन हुआ था। कवि को शिव के दोनों ओर—गुप्तकालीन और गुप्तोत्तरकालीन मन्दिरों की भाँति—उन्हें प्रतिष्ठित करना शोभन लगा—

मूर्त्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।

(कुमार०, ७, ४२)

इसी प्रकार शेषशायी (भोगिभोगासनासीन) श्रीवत्सलक्षण से संयुक्त वक्षवाले शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु की लक्ष्मी द्वारा अर्चित मूर्ति साक्षात् पुरुष की कवि को लगी। **पुरुषश्च साक्षात्** —(कुमार०, ६, ७)

भरत के खेलने के लिए जिस मिट्टी की मूर्ति का—वर्ण-चित्रित पक्षी का—शाकुन्तल में वर्णन हुआ है, उसकी उँगलियाँ जालग्रथित—जाल से एक-से-एक जुड़ी—हैं, जो कवि के काल में ही उस शैली में पहली वार वनी थीं और जिनके अनेक उदाहरण लखनऊ संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं।

अप्रत्यक्ष रूप से ध्वन्यात्मक निरूपण कवि ने जिन मूर्तन प्रतीकों का किया है, उनकी संख्या अनन्त है, यहाँ हम कुछ की ओर संकेत करेंगे। देवताओं के मुखमण्डल के चतुर्दिक वृत्ताकार जो प्रकाशपुंज (हैलो) होता है, और जो कुषाण-गुप्त-कालीन मूर्त्तियों में (विशेषकर बुद्ध की मूर्त्तियों में) वना प्रतीक है, उसका उल्लेख कालिदास ने 'प्रभामण्डल' और 'छायामण्डल' आदि नामों से किया है। प्रभामण्डल के स्फुरित (कम्पित प्रकाश-रश्मियों सहित) रूप की व्याख्या उसने 'स्फुरत्प्रभामण्डल' द्वारा की है। गुप्त सम्राटों के पूज्य कार्त्तिकेय के समकालीन मूर्तन का उल्लेख 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' में हुआ है। मोर की पीठ पर चढ़े कार्त्तिकेय की मूर्त्ति मथुरा और लखनऊ के संग्रहा-लयों में अनजानी नहीं है। देवी मूर्त्तियों की गुप्तकालीन चित्र-कला विभिन्न शैलियों में संपन्न हुई थी, उसका कवि ने अनन्त

और प्रत्यक्ष वर्णन किया है। तत्कालीन मूर्तियों और चित्रों में नर-नारियों के केशकलाप में जो स्कन्धस्पर्शी कुन्तलों के दर्शन होते हैं, उनका निरूपण कवि ने बार-बार 'अलकजाल' आदि शब्दों द्वारा किया है। वस्तुतः समकालीन मूर्त्तिसंपदा शायद कवि के काव्य में मूर्त्तियों के प्रमाण बन गयी है। प्रसाधन के जो वर्णन कवि ने किये हैं, उनके अनन्त मूर्तरूप आज संग्रहालयों में उपलब्ध हैं। सप्तमातृकाओं, लक्ष्मी, रावण द्वारा कैलास का उत्तोलन, लीलारविन्द घुमाती नारी, नागी, पूर्णकुम्भ, किन्नर, अश्वमुखी यक्ष-यक्षी आदि के कवि की रचनाओं में जिस अमित मात्रा में उल्लेख मिलते हैं, उसी मात्रा में समकालीन मूर्त्ति-कला में उनका मूर्त्तन हुआ है। शिव की समाधि बुद्ध की समाधिगत मूर्त्तियों से भिन्न नहीं, वस्तुतः उन्हें ही प्रमाण मान मूर्त्त हुई है और शिव की समाधिवाले लताद्वार पर बाएँ प्रकोष्ठ से हेमवेत्र टिकाये नन्दी का जो रूप है वह समसामयिक किसी भी द्वारपाल को उत्कीर्ण आकृति में देखा जा सकता है। कामदेव के वास्तविक जीवित रूप का वर्णन कवि ने किया है। कुषाणकालीन कामदेव की मृण्मूर्त्तियाँ अपने पंचसायक रूप में कुछ कम मनोहारिणी नहीं। अशोक दोहद का कवि ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में सचित्र प्रत्यक्ष वर्णन किया है। कुषाणकालीन रेलिंग की यक्षी जिस कौतुक से अशोक दोहद संपन्न करती है, मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित उसकी मूर्त्ति कवि का छन्दस् बन गयी है।

कालिदास का जीवनकाल अपने वातावरण में जितना ऊँचा है उतना ही उनकी निरीक्षण-शक्ति भी प्रबल है। काव्य में कविशक्ति के साथ सर्वोच्च शिल्प और वस्तु का इतना गम्भीर संयोग अन्यत्र नहीं हुआ।

२५

रघु की दिग्विजय

●

शरदागम पर जब बरसात का मल बह गया, पंक सूख जाने से मार्ग चमक उठे, दिशाएँ दरपन-सी झलकीं, चढ़ी नदियों का जल उतर गया, मतवाले हाथियों के गंडस्थल पर चढ़ मद चूने लगा तब दिलीपनन्दन रघु ने दिग्विजय की यात्रा की—

प्रासाद के प्रांगरण में हवनों की सुरभि ले लोल पवन डोला। अथर्व के विजयमंत्रों की फैलती गरिम गिराओं के बीच गिरि-कज्जल कुंजर डोले, वनायु तुरंग कसमसे, खुरों से धरा खोद बोले पैदलों की पाँति हिली, रथों के चाक हिले, वीरों के वसन पर, कन्धों और शीष पर विदाई के अक्षत के खील खिले, विजयी रघु तुरही के तीखे सुर, डंके की चोट चले—

चतुरंगिरणी सेना के धरहरे फहरे, धरा की धूल आकाश लगी, मेघवत् गजों का संभार लिये आकाश जैसे धरा पर उतरा— कौन पहचाने उस एकतान धूलायित अम्बर को, धरा को?

चतुरंगिरणी लिये, गुप्तचर और शत्रुमार्गदर्शक लिये रघु पहले पूर्व की ओर चले, नदियों पर पुल बाँधते, वनैले गजराज की भाँति राह के राजतरुओं को झिझोड़ते, तोड़ते, जड़ से उखाड़ते—

पूरब के जनपदों को जीतते रघु ताड़ों की पाँत से श्यामल

सागर तीर की ओर बढ़े। सुह्मों के राजा आँधी के सामने वेंतों की तरह झुक गये, और जब जलयानों में चढ़-चढ़ वंगों के राजा सामने आये तब रघु ने उन्हें जड़ से उखाड़ गंगा की सागर-गामिनी धाराओं के बीच अपनी विजय के खंभे गाड़े—

क्यों नहीं? धर्मविजयी नृप थे रघु—अविनयी को उखाड़ देनेवाले, विनीत को धान की पौधों की तरह निराकर फिर से रोप देनेवाले वे धराधारी वीरभोगी रघु—

फिर तो गजों का सेतु बाँध कपिशा लाँघ रघु उत्कल पहुँचे। चोट खाये उड़िया राजाओं की बतायी राह चल कलिंग के राजाओं पर जा टूटे। मतवाले गजराज के मस्तक पर चुभाये अंकुश की भाँति रघु ने महेन्द्र पर्वत की चोटी पर अपने शिविरों के बल्ले गाड़ दिये।

युद्ध ठन गया, कलिंग के हाथी बिथक गये।

अस्त्रों की वर्षा क्या थी रघु के लिए नए जीते राज्य के अभिषेक का स्नान था। फिर तो विजय मद से मदी रघु की सेना ने छक कर पीने का निश्चय किया—महेन्द्र की ढलानों पर सागर के तीर नारिकेलों की छाया में आपानक बना और उस पानभूमि में बैठ पान के पत्रों को चषक बना रघु के सैनिकों ने उनमें नारियल की सुरा ढाली। साथ-साथ शत्रुओं का यश भी पी लिया—

चरणों में झुके कलिंगराज को पकड़ लेने पर भी बन्धन-मुक्त कर धर्मविजयी रघु ने उसकी राज्यश्री तो हर ली पर राज लौटा दिया—स्वयं अगस्त्य की गयी दिशा दक्षिण की ओर चले, सुपारी लदे उन कमनीय छरहरे तरुओं की ओर सागर की लहरियाँ जिन्हें लहरा-लहराकर चूम रही थीं—

और वह लाज की बात! सामने कावेरी की धारा थी। विक्रान्त सैनिक मत्त गयन्द की तरह उसमें हल चले, सैनिक भी गज भी। कावेरी की धारा मथ गयी, जल से मद की कसैली गन्ध उठी। नदी की ऐसी गति बनी कि सागरपति के समीप जाय और पति उसे पतिया न पाये, शंका कर उठे!

आगे मलयाद्रि की उपत्यका थी। ऊँची-नीची पहाड़ी राह लाँघते रघु वहाँ जा पहुँचे, जहाँ डालों से गिरती मिर्चों को निरन्तर उड़ते हरे-हरे तोते बीच से ही चोंचों में लोक लेते थे, जहाँ घोड़ों के खुरों से कुचली इलाइची की धूल जब उड़ती गजों के बहते मद-जल पर जा गिरती, मद और इलाइची दोनों की तीखी गन्ध से हवा तब बस जाती। चहुँ ओर छाये चन्दनों की सुरभि ही तब सहायक होती।

दक्खिन जाते सूरज का प्रचण्ड तेज भी मन्द पड़ जाता है, उत्तर के राजाओं की दक्षिण के पांड्यों के सामने एक नहीं चलती, पर रघु तो रघु थे, पांड्यों को काठ मार गया, अपने संचित यश के साथ-साथ ताम्रपर्णी और सागर के संगम के मोतियों की राशि भी उन्होंने उस विजयी को समर्पित कर दी।

मलय और दर्दुर के गिरिचन्दनों से टकराते रघु अपनी सेना लिये फिर सह्याद्रि पार सागर तट पर जा उतरे। केरलियाँ भय से भभर कर भागीं तो विजयिनी सेना द्वारा उठायी धूल ही उनके नंगे सीमन्त के अस्तव्यस्त कुंचित कुंतलों का मंडन बन गयी, प्रसाधन का चूर्ण।

इस प्रकार अपरान्त को जीत रघु फिर उत्तर की ओर चले। फिर तो घोड़ों के कवच ऐसे खनखनाये जैसे पवन की चोट से ताड़ के पत्ते। त्रिकूट पतर्व पर हाथियों ने जो अपने दाँत मारे तो लगने लगा कि उनसे बनी रेखाएँ स्तंभ पर लिखे रघु की विजय-प्रशस्ति की पंक्तियाँ हों।

आगे पारसीकों को जीतना था, बलोचिस्तान पार के ईरानियों को। सरल मार्ग जल का था, कठिन मार्ग रेगिस्तान का था, राजस्थान की घातक मरुभूमि का। पर जैसे योगी तत्वज्ञान के सहारे इन्द्रियों पर चोट करता है, रघु ने जल की सुगम राह तज मरुस्थल की कठिन राह पकड़ी—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी॥

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥

संयम भी बुरी बला है । रघु का संयम पारसीक यवनियों के मदिरा से गमकते मुँह को न से सका, न सह सका । जैसे अकाल मेघोदय से प्रातः के खिले, कमल मुरझा जाते हैं । वैसे ही यवनियों के मुख-कमल रघु के अचानक आक्रमण से मुरझा गये ।

कोजक अमरान के पहाड़ों से सिन्धु पार रघु की सेना फ़ारस की दाखों से ढकी भूमि पर जा उतरी थी ।

पारसीक घुड़सवारों के रिसाले सामने राह रोके खड़े थे । तुमुल संग्राम छिड़ गया । तलवार-से-तलवार बज उठी, भाले-से-भाला । घोड़ों ने ठोकरों से मार-मार पृथ्वी आकाश में बिछा दी । धूल के मारे कुछ दिखता न था, शत्रु-मित्र की पहिचान केवल धनुष की टंकारों से होती थी । रघु ने बाण मार-मार कर जो पारसीकों के सिरों से भूमि पाट दी तो उनकी दाढ़ियों से लगने लगा जैसे मधुमक्खियों से भरे मधु के छत्तों से धरती ढक गयी हो !

जो बच रहे वे शिरस्त्राण उतार रघु के चरणों में जा गिरे । महात्माओं का आचरण करनेवाले विजयी ने उन शरणागतों को क्षमा कर दिया ।

फिर तो सैनिकों की बन आयी । उन्होंने दाखों-अंगूरों के घेरों से धरा को ढक लेनेवाली बेलों की ओर देखा और अंगूरी सुरा उनकी आँखों में उतर आयी । उन्होंने आपानक रचा, मृग-छालाएँ बिछा-बिछा, छक-छककर मदिरा ढाली, विजयश्री के साथ-साथ पी ली । समर की थकान मिट गयी ।

और तब उत्तरवालों की विजय करने भारतीय विजेता उत्तर की दिशा की ओर चला, उधर के उन्नत जनपदों को रौंदता । फिर वह बलख़-बदख़्शाँ की ओर फिर गया, आमू-दरिया की घाटी में जा उतरा जहाँ दुर्द्धर्ष हूण उसकी राह रोके खड़े थे—

उस महानद के तीर खड़े हूणों को धूल चटा जब रघु ने उनके शिविरों को भूमिसात कर दिया तब अन्तःपुर की हूण नारियाँ सिर पीट-पीटकर रोने लगीं, पीटने से उनके गाल लाल हो उठे।

विजयी ने युद्ध का श्रम आमूदरिया की केसर की क्यारियों में दूर किया। उसके घोड़े जब थकान मिटाने के लिए क्यारियों में लोटने लगे तब उनके अयालों में केसर भर गयी, सटाएँ झटक-झटक कर भी वे उन्हें गिरा न सके।

कश्मीर के उत्तर-पश्चिम कम्बोजों की पराक्रम-भूमि है, उन कंबोह कबीलों की भूमि जो कश्मीर की सुहावनी घाटी को ललचायी आँखों निहारा करते हैं। रघु के रिसालों ने उनकी ठसक तोड़ दी, उनके अखरोटों से उसने अपने हाथी बाँधे। जैसे हाथी बाँधने से अखरोटों की डालियाँ झुक गयीं वैसे ही कबिलाइयों के कंबोज नेता हार का बोझ लिये झुक गये।

ऊँचे घोड़ों की भेंट और सोने की राशि कर के रूप में स्वीकार कर रघु अब देश की ओर लौटे, हिमालय की राह। घुड़सवारों के साथ वे हिमालय पर चढ़ गये, लगा जैसे घोड़ों की टापों से झरती गेरु की धूल से पर्वतराज की चोटियाँ कुछ और ऊँची उठ गई हों!

जैसे पर्वतराज की चोटियाँ कुछ और ऊँची उठ गई हों, सच! और रघु के वीर सैनिकों का सिंहनाद सुन गुहाओं में सोये सिंह कुछ उचके, सहमे, फिर चुपचाप सो गये।

भोजपत्रों में मरमर करता, बाँसों के छेदों में रम वंशी बजाता-सा, गंगा की नीहारिकाओं से शीतल पवन रघु की थकान हरता जा रहा था। सैनिक नमेरु वृक्षों की छाया में पड़ी कस्तूरी मृग के स्पर्श से सुवासित शिलाओं पर जा बैठे, साँझ हुई, रात आयी।

देवदारों से बंधे हाथियों के कण्ठे रह-रह कर अपने आप

जल उठनेवाली बूटियों के तेलहीन दीपक के प्रकाश में चमक उठते थे।

प्रात: जब सूर्य ने हिमालय के शिखरों पर स्वर्णराशि बिखेर दी तब रघु की विजयवाहिनी तिब्बत की ओर पूरब की राह चली—

पूरब की राह किरातों से भरी थी—पीत काय पहाड़ियों से। उत्सवसंकेतों की सेनाएँ रघु के बाण-वर्षण से निरस्त हो भागीं, कन्दराओं में समा गयीं।

किन्नर रघु की विजयों के गीत गा उठे, किन्नरों का संगीत सार्थक हुआ!

हिमालय से कर में द्रव्य की अनन्त राशि ले, उस पर अपनी विजय का स्तंभ स्थापित कर रघु पूरब की ओर चले। राह में कैलास का उत्तुंग शिखर खड़ा था पर विजेता ने उसकी ओर देखा तक नहीं।

कैलास का वह उत्तुंग शिखर लजा गया, सोचने लगा, एक बार रावण ने मुझे हिला क्या दिया मैं सभी के अपमान का पात्र बन गया। देखो न इस रघु को अभिमानवश मुझे नगण्य मान मेरी ओर रुख भी नहीं करता, युद्ध के लिए मुझे सत्पात्र तक नहीं मानता!

आगे, पूरब हिमालय से उतरते ही, मैदान में लौहित्य नदी मिली, ब्रह्मपुत्र, जो भोटों के देश से असम में आ उतरती है, लाल जिसका जल है, अरुण के उदय के बाल स्पर्श से लाल, क्योंकि प्राची का पहला प्रकाश वहीं उदित होता है। प्राग्ज्योतिष इसीसे उसके तटवर्ती जनपद की राजधानी का नाम है।

सो, लौहित्य को लाँघ रघु ने प्राग्ज्योतिष के कालागुरु के वृक्षों से अपने हाथी बाँधे। पर अभी रण का नगाड़ा तक नहीं बजा था कि जैसे कालागुरु के तरु काँप रहे थे वैसे ही काँपता कामरूप का राजा रघु के सामने नतमस्तक आ खड़ा हुआ। फूल-माला से, रत्नोपहारों से सोने के पीढ़े पर रखे उनके चरणों की

उसने बहुविधि पूजा की।

दिशाओं को जीत रघु राजधानी लौटे। आगे-आगे रथों की सेना, उसकी उठती धूल, पीछे छत्रों-मुकुटों से विहीन राजा जिनके केशों पर वह धूल बैठती जाती थी।

दिग्विजयी रघु ने अब विश्वजित् यज्ञ किया। सारा जीता हुआ धन दे डाला, जैसे नभ धरा से जल खींच सहस्र धार बरस फिर उसे ही लौटा देता है। संचय की सार्थकता विसर्जन में ही है।

विश्वजित् सम्राट् ने फिर राजाओं को मुक्त कर उन्हें उनका राज लौटा दिया। उन्हें दीर्घकाल से बिछुड़ी रानियों से संयुक्त किया।

अपने घर लौटते विजित राजा जब प्रणाम-क्रिया में रघु के चरणों में झुके तब उनकी स्वाभाविक गोरी उँगलियाँ राजाओं की चूड़ा की मालाओं से झरते पराग से और भी गोरी चमक उठीं।

और मेहरौली में कुतुबमीनार के पास पृथ्वीराज के आँगन में भारत के विजयी ने 'दिल्ली की कीली' गाड़ी। कालिदास के इस रघुदिग्विजय के शालीन में ही समकालीन कवि ने गाया जो उसकी 'कीली' की लोहे की भूमि पर खुद गया—

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वंगेष्वाहववर्तिनऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्यप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः॥

जिसने बंगाल के शत्रुओं के संघ बनाकर आने पर उन्हें तितर-बितर कर, युद्ध में नष्ट कर, खड्ग से कीरत लिखी, जिसने सिन्धुनद की सातों धाराओं को लाँघ वाह्लीक—बलख—में हूणों को जीता, जिसके पराक्रम की सुरभि से दक्षिण सागर आज भी सुवासित हो रहा है।

●

२६

ते भागधेयानि पृच्छ !

●

पंद्रह सौ वर्ष से अधिक हुए जब महाभारत की एक सामान्य आख्यायिका को लेकर एक महाकवि ने उसमें अमर प्राण फूंक दिये। तब से आज तक निरन्तर हमने उसके संपर्क से अनंत साहित्यिक आनन्द का लाभ उठाया है। यह शाकुंतल क्या है ? क्या एक शृंगारिक कवि की वासना का मात्र रौप्य व्यक्तीकरण ?

'अभिज्ञानशाकुंतल' नाटक एक नैतिक रहस्य है। दुष्यन्त महाभारत का लंपट और कामुक राजा नहीं, कालिदास का उत्तम पात्र है जिसके चरित्रचित्रण में उसने कौशल लगाया है। भले ही शकुंतला के त्याग से हम उसकी गर्हणा करें, परन्तु क्या कोई सहृदय कलामर्मज्ञ सचमुच उसे इस प्रतारणा के योग्य ठहरा सकता है ? कालिदास के दुष्यन्त का प्रेम-राग तो दुर्वासा की ब्रह्मवर्चस् अग्नि में भस्म होकर पवित्र हो गया है।

स्थूल-पार्थिव रूप में भी दुष्यन्त सर्वथा क्षम्य है—यथार्थ में तो इसमें उसके दोष का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इस अवस्था में सांसारिक मानव की भाँति ही वह भी दुख-सुख का अधिकारी है, द्वंद्वों का धनी है। वह राजा है। कालिदास के छः काव्य-ग्रंथों में बीसों स्थलों पर राजा को वर्ण और आश्रम-धर्मों का गोप्ता कहा गया है। वह 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' है,

वर्णाश्रमों केर क्षणकर्म में अनवरत 'जागरूक' है। वर्णाश्रम धर्म की सीमा का जब कोई पात्र उल्लंघन करता है तब महाकवि की क्षुब्ध लेखनी उस पर आग उगलने लगती है, चाहे ऐसा पात्र राजा अथवा 'तपस्विसुत' ही क्यों न हो। कालिदास के विचार में सामाजिक व्यवस्था को मानकर उस पर 'नेमिवृत्ति' से आचरण न करनेवाला वह पापी है जो नियंता द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक प्रणाली का विरोध करता है। शासन और सामाजिक व्यवस्था मनुष्यों ने कैसे प्राप्त की थी ? एकमत होकर सारे देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसा व्यक्ति माँगा जो शासन और दंडनीति द्वारा समाज का नियंत्रण कर सके, उसमें होनेवाले अपचार के कारणों को दंड की आग में जला सके। फलस्वरूप मनु मिले जिन्होंने मानव जाति को सर्वप्रथम समाज और शासन की व्यवस्था दी। उस व्यवस्था को, जिसकी मनुष्यों ने स्वयं याचना की थी, भंग करने की उन याचकों में ही क्योंकर क्षमता हो सकती थी ? जो ऐसा करने का साहस करेगा वह कितना साहसिक होगा ! उसका दमन आवश्यक है। ऐसे ही व्यवस्था-भंजकों के दमनार्थ जब राजधर्म का सृजन हुआ है तब राजा वर्णाश्रम के अन्वीक्षण में सतत जागरूक क्यों न हो ? इसी कारण जब-जब वर्णाश्रमधर्म की उपेक्षा की गयी है, तब-तब कालिदास ने राजा को उसके रक्षणधर्म का स्मरण कराया है। मनुष्य मात्र को इस व्यवस्था-भंजन के जघन्य पाप से सावधान करने के लिए ही उसने 'अभिज्ञानशाकुंतल' की सृष्टि की। यह पूरा नाटक केवल एक स्रोत है जिसके पूर्वभाग का संबंध वर्णाश्रम-धर्म की क्षति से और उत्तरभाग का उसके दंड से है। शाकुंतल में कालिदास ने संसार के सामने रंगमंच पर खेल कर यह बात घोषित कर दी है कि समाज की व्यवस्था तोड़नेवाला चाहे समर्थ राजा अथवा तपस्वी ऋषि की सुकुमारी कन्या ही क्यों न हो, उस पर दंडविधान का चक्र अवश्य प्रवृत्त होगा क्योंकि वह चक्र व्यक्तित्व की अपेक्षा नहीं करता।

मृगया करता हुआ दुष्यंत कण्वाश्रम में पहुँचता है। कुलपति नहीं हैं। परन्तु आश्रम के आचार की रक्षा के लिए अनेक तपस्वी हैं, और ऋषिकन्या शकुंतला अतिथिसत्कार के लिए विशेष प्रकार से नियुक्त है। अतिथि का आचरण करनेवाला दुष्यंत इस कन्या द्वारा की गयी पूजा सब प्रकार से स्वीकार करता है। अर्घ्यादि प्रदान करने के साथ ही आश्रमवासिनी सरला कन्या अपना सर्वस्व अर्पण कर बैठती है। दुष्यंत उसे हृदय खोल कर स्वीकार करता है। प्रेम का संचार पहले उसीके हृदय में होता है और उसकी वृत्ति चोर की-सी हो जाती है। साधारण ग्राम्यरूप उसके प्रेम का नहीं दीखता, बल्कि उसमें लुका-छिपा नागरिक के प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राम्य प्रेम खरा और निश्छल होता है, नागरिक प्रच्छन्न और मिश्रित। ग्राम्य-प्रेम का अंत प्राजापत्य विवाह में होता है, और नागरिक का प्रायः गांधर्व में। नागरिक प्रेम से ओतप्रोत दुष्यंत शकुंतला के शरीरगठन की कमनीयता को चोर की भाँति छिप कर वृक्ष की ओट से देखता है। शकुंतला जब दुष्यंत को देखती है, उसी की हो जाती है। दोष किसका है? दुष्यंत का या शकुन्तला का? क्या यह दोष है भी? मनुष्य जहाँ होते हैं वहीं उनकी दुर्बलताएँ भी होती हैं। फिर भी तपोभूमि विराग का स्थल है, केलि-कानन नहीं। सांसारिक सुखों का आस्वादन समाप्त कर चुकने पर मनुष्य इस आश्रम का वासी होता है। यह आश्रम वह स्थल है जहाँ शम, दम, नियमादि का पालन किया जाता है। यदि यहाँ भी सांसारिक इंद्रियलोलुपता घर कर ले तब तो बस आश्रम का अंत हुआ समझिए। इसी कारण 'वेतसनिकुंज' के गांधर्व प्रेम के अनंतर अनुसूया घबरा उठती है—आश्रम के नियमों पर वरुण की भाँति दृष्टि रखनेवाले कुलपति कण्व के आने पर यह अनाचार की बात उनसे कैसे कही जायेगी? इस पाप की जघन्यता क्या स्वयं शकुन्तला नहीं समझती? साधारण नियमों को देख-देख कर आज इस व्यवस्था-ह्रास के युग में भी जब बिना सावधान किए ब्राह्मण का पाँच

वर्ष का बालक यह जानता है कि जूठे हाथों घड़ा नहीं छूना चाहिए, बिना पाँव धोए चौके में नहीं जाना चाहिए, तब क्या तपोधनी कण्व की कन्या आचारपूत आश्रम में आजन्म रह कर भी, नित्यप्रति संपादित होनेवाले क्रियाप्रबन्धादिकों को देख कर भी, उचित-अनुचित नहीं समझती ? वह कला जानती है, प्रेम की पीड़ा पहचानती है, अनुकूल आकर्षण की प्रेरणा से उसे सात्विक स्वेद और रोमांच हो जाते हैं, खुले दरबार में शास्त्रों में अकुंठिता बुद्धि रखनेवाले अप्रतिरथ सम्राट् की वह उसके अनौचित्य पर भर्त्सना करती है, फिर क्या उसे इतना भी बोध नहीं कि गांधर्व विवाह आश्रम की भूमि के उपयुक्त नहीं ? इतना होने पर भी उसने क्यों अनाचार करने पर कमर क ली ? उसके ऊपर राग का आवरण क्यों चढ़ गया ? अपना तो सर्वस्व उसने दे ही डाला, प्रथम कर्तव्य भी वह भूल गयी। पिता कण्व ने उसे अतिथिसेवा में नियुक्त किया था, परन्तु वह प्रेम-वारुणी का पान करके अपनी सुध-बुध इस तरह खो बैठी कि उसे अपने धर्म का ज्ञान न रह गया। जब शरीरधारी ब्रह्मचर्य मानो दुर्वासा के रूप में आश्रम में उपस्थित होता है तब भी वह सुन्न है। अतिथि-सत्कार कैसा, वह भूल गयी है। दुर्वासा के आगमन के समय शकुन्तला दुष्यन्त के विरह में उसकी प्राप्ति के अर्थ संतप्त हो रही है। उसके विरह-ताप का कोई मान नहीं, उसे किसी अन्य विषय का भान नहीं, परम तेजस्वी रुद्ररूप दुर्वासा के आगमन का उसे किंचित मात्र भी ध्यान नहीं। 'कुमारसंभव' में पार्वती भी शिव के लिए तपश्चरण करती है :

मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा॥

उसमें भी दुर्वासा की भाँति ब्रह्मचर्य शिव के रूप में ब्राह्मण का वेश धारण कर पार्वती के समक्ष जाता है। पार्वती की यही परीक्षा है, पर वह उसमें पूर्णतया उत्तीर्ण होती है। उसके 'स्फुरत्प्रभामंडल' में कोई विकार नहीं होता। कठिन तपश्चरण

के पश्चात् भी वह अपने को जानती है, अपने आश्रम को पहचानती है, अतिथि ब्रह्मचारी का सत्कार करती है, शिव मूलरूप में उसको प्राप्त होते हैं। शकुन्तला के पास भी ब्रह्मचर्य परीक्षा के लिए आता है। पर वह उसको नहीं पहचानती। पार्वती तो पति की चिंता में थी, उसे तो प्रेम का व्यवहार ज्ञात था। उसका पतन यदि कहीं हुआ होता तो वह क्षम्य होता, क्योंकि उसने तो जानबूझ कर ही इस मार्ग में पाँव रखा था, परन्तु शकुन्तला ने तो यह रूप कभी जाना ही न था। सदा आश्रम में रहनेवाली कन्या का अपने पद की रक्षा न करते हुए आश्रमवृत्ति के विरुद्ध आचरण कैसे क्षम्य हो सकता है ? यदि शकुन्तला ने मर्यादा का उल्लंघन न किया होता, तो बहुत संभव था कि परीक्षक ब्रह्मचर्य दुर्वासा का रूप छोड़ कर दुष्यंत बन जाता परन्तु यहाँ तो स्वयं ब्रह्मचर्य को आश्चर्य हो रहा था। युगांत तक कण्व सरीखे महात्मा द्वारा दीक्षिता कन्या भी अपचार का एक झोंका न सह सके, कितने अनर्थ की बात है ! ब्रह्मचर्य बारह वर्ष से अधिक इस कन्या का इस पुनीत आश्रम में शरीर और चरित्र का गठन करता रहा। परन्तु दुष्यन्त के दर्शन मात्र ने उसके शरीर में यह कौन सी बिजली भर दी जिससे उस क्षणिक-संबंधी दुष्यंत के सम्मुख इस चिरपरिचित ब्रह्मचर्य को भी शकुन्तला ने ठुकरा दिया ? ब्रह्मचर्य क्षुब्ध हो उठा, कालिदास की धर्मभीरु आत्मा कांप उठी, दुर्वासा का रुद्ररूप व्यक्त होकर पुकार उठा—

> आः अतिथिपरिभाविनि,
> विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
> तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
> स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
> न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥

ब्रह्मचर्य का धैर्य छूट गया; क्यों न हो ! जहाँ शकुन्तला को आश्रम की निवासिनी होने के कारण ब्रह्मचर्य को सदा

आश्रय देना चाहिए था, वहाँ उसकी प्रतिष्ठा तो दूर रही उसके स्वयं आकर उपस्थित होने पर भी वह उसकी उपेक्षा करती है ! वह चिल्लाकर कहता है, मेरा धन तप है, (तप की आँच से ब्रह्मचर्य के पास कोई फटक नहीं सकता), मैं तपोभूमि का धन हूँ, तुम मेरे राज्य की प्रजा हो, तुम्हें बराबर मेरी ही पूजा करनी चाहिए, क्योंकि मेरे ही भीतर अपनी स्थिति रखने की तुमने दीक्षा ली है, सो स्वयं तो तुम मेरी प्रतिष्ठा क्या करोगी मेरे उपस्थित होने पर भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो। मैं स्वयं उपस्थित होकर तुम्हें अपनी सत्ता का बोध कराता हूँ, फिर भी तुम अपनी अवस्था पर, अपने स्खलन पर आश्चर्य नहीं करतीं, इसलिए जिसकी चिंता में तुम इस समय निरत हो वह स्मरण कराने पर भी तुमको नहीं पहचानेगा। कालिदास ने कहा सही है—शकुन्तला की यह स्पर्धा ? शकुन्तला ने सोचा—वह क्या चीज़ है, मैंने जिस समय अवगुंठन हटा कर अपना यह नयनाभिराम भुवनमोहन रूप दिखाया लोभायमान हो जायगा, चुम्बक की भाँति खिंच आयेगा ! परन्तु व्यवस्थापक धर्मासन से तिरस्कारपूर्वक निर्घोष कर उठा—

भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणां प्रत्यात्मनं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये।

इससे बढ़कर आर्यकन्या के लिए और कौन-सा दंड हो सकता है कि वह खुले आम व्यवहारासन पर बैठे पति द्वारा तिरस्कृत हो ! 'अभिव्यक्तसत्वलक्षणा' होती हुई भी, उसकी ओर इंगित करती हुई भी वह ठुकरा दी जाय ! शकुन्तला इस दुःख से जर्जर हो जाती है, फिर जब तप से तप कर वह शुद्ध होती है तब कहीं दुष्यन्त उसे प्राप्त होता है। तप से तपने के लिए वह कण्व के आश्रम में नहीं जा सकती, वह तो ब्रह्मचर्य का पूर्वकांड है, उत्तरकांड तो मरीचि के आश्रम में, काश्यप के आलोचनात्मक नेत्रों के नीचे है। वह वाणप्रस्थाश्रम है जहाँ के प्रशांत वातावरण में शकुंतला का पुत्र ही शैशव के शब्दों का उच्चारण करता है।

वहीं वास करती हुई शकुन्तला से उसका उपहास करता हुआ वाणप्रस्थ नित्य पूछता होगा—'अप्रौढ़े, तेरा गार्हस्थ्य कहाँ है ?' गार्हस्थ्य तो शकुंतला ने खो दिया था। ब्रह्मचर्यव्रत-भंजन के साथ ही उसका भी नाश हो चुका था। फिर वह उसे क्योंकर सुखी करता ? ब्रह्मचर्य का सौम्य और स्वाभाविक अंत गार्हस्थ्य में होता है, उसका वाणप्रस्थ में, और उसका भी संन्यास में। जिसकी नींव ही बिगड़ जाय, उसके और आश्रमों की अट्टालिका किस पर खड़ी हो ? इस आश्रम में नित्य शकुंतला को ग्लानि होती होगी। कालिदास ने शकुंतला को कण्वाश्रम में नहीं भेजा, मरीचि के आश्रम में भेजा ! काश्यप नित्य पातिव्रत का उपदेश करते हैं। एक-एक उपदेश देह धारण कर शकुंतला से पूछता होगा—तेरा पति कहाँ है ? यह तेरा पुत्र कैसा ? तू स्वीकृता है अथवा परित्यक्ता ? उसका दंड कितना भीषण है, कोई शकुंतला से पूछे ?

राजसभा में शकुन्तला औरों के साथ स्वयं भी राजा को धिक्कारती है, उससे झगड़ती है, परन्तु एक बार भी यह नहीं नहीं कहती कि जिस दोष को व्यवस्थापक और परिपालक राजा होकर तुमने स्वयं किया उसका दंड मुझे तुम किस अधिकार से दे सकते हो ? दुष्यंत राजा आज है, जब वह शकुंतला को व्यवस्थाधर्म तोड़ने के अपराध में दंडित कर रहा है, चाहे वह उसकी प्रेयसी ही क्यों न हो। जिस समय स्वयं दुष्यंत ने कण्व के आश्रम में व्यवस्था भंग की थी उस समय वह राजा नहीं केवल साधारण प्रेमी था। कम-से-कम शकुन्तला उसे साधा-'तपोवनधर्म की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष'—

राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ—

मात्र ही जान कर स्वीकार करती है। इसलिए उसे क्या अधिकार है जो वह चुनौतीपूर्वक राजा से कह सके कि जब राजा होकर (जिसका कार्य व्यवस्था की रक्षा है) तुमने स्वयं वही अनर्थ किया तो एक ही पाप के भागी दोनों में से एक

दंड घोषित करे और दूसरा उसे भोगे, यह कैसी दुर्व्यवस्था है? पर नहीं अब दुष्यंत प्रेमी नहीं है, वह केवल राजा है और कुछ नहीं। वह उस आसन पर शासन की बागडोर धारण किए दंड-निग्रह के अर्थ बैठा है जिसे कालिदास ने कहीं धर्मासन, कहीं कार्यासन और कहीं व्यवहारासन कहा है। उस आसन का साथी न्याय और दंड है, पत्नी और प्रेयसी नहीं। शकुन्तला का दंड हो चुका।

अब दुष्यंत। उसका दंड और भी कठोर है। यद्यपि वह साधारण नागरिक की हैसियत से प्रेम करता है और अपने उत्तरदायित्व को कम करने के लिए अपने को साधारण राजपुरुष घोषित करता है, परंतु नियति का नियामक चक्र उसको पहचानता है। व्यवस्था दुष्यंत और शकुन्तला दोनों ने तोड़ी है, दोनों ने समान अपराध किया है, दंड दोनों को मिलेगा। शकुन्तला को मिल चुका, पर दुष्यंत को दंड कौन दे? शकुन्तला तो प्रजा थी, दुष्यंत राजा था। राजा सबको दंड दे सकता है, क्योंकि वह सबसे बड़ा है, सबका नियामक है। पर उसे दंड कौन दे? कौन उससे बड़ा है? मनुष्य तो उसे दंड दे नहीं सकता, क्योंकि राजा 'सर्वातिरिक्तसार' एक विशेष व्यक्ति है, सर्वतेजोमय है, पृथ्वी के सारे 'सत्वों को मेरु की भाँति वह आक्रांत कर उन पर शासन करता है।' वह देवताओं का अंश है। जब दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तब उसके गर्भ में लोकपाल प्रवेश करते हैं। सो इंद्रादि देवताओं के अंश रूप, ऐतरेय ब्राह्मण के मंत्रों से अभिषिक्त, शासन-शपथ के धनी कालिदास के इस राजा को कौन मानव दंड दे सकता है? उसे स्वयं वही दंड देगा। नियति उस पर अपना शासन-चक्र रक्खेगी। उसके शरीर में देवताओं का निवास है; सब मिलकर उसे दंडित करेंगे।

छठे अंक के आरम्भ में नागरिक शकुन्तला को दी हुई राजा की अँगूठी दुष्यन्त के पास ले जाता है। राजा के नेत्र अँगूठी

आँसू उमड़कर भर आते हैं। यदि कोई साधारण कलाकार होता तो राजा को विक्षिप्त बना देता। परन्तु कालिदास का राजा अपने गहरे दुःख की स्मृति में भी राजधर्म का संपादन करता है, और अन्यत्र कुछ समय बाद जब प्रथम बार उसका कंठ खुलता है, तब उसकी दीन दशा का बोध करानेवाली उस करुण वाणी का सृजन होता है जो कभी किसी प्रायश्चित्ती ने नहीं कही—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम्॥

'उस समय, हृदय तू किसी नींद सोया था जब प्रिया के बारंबार जगाने पर भी न उठा; अब अभागे, असीम दुःख की चोट को मापने उठ बैठा! दंड का आरंभ हो चुका है। इसकी कठोरता और निर्ममता यदि किसीको देखनी हो तो वह छठे और सातवें अंकों के दुष्यन्त को देखे। वहाँ उसके दंड और प्रायश्चित्त का सूक्ष्म दर्शन हो सकता है। उसका हृदय दुःखातिरेक से जाग उठा है, वही जो प्रिया की कोमल स्मृति के आघातों से नहीं जागा था। दुर्वासा के रूप में ब्रह्मचर्य ने भी यही कहा था—तुम स्वयं मेरी अभ्यर्थना कहाँ तक करोगी—मद्यपी की नाईं आचरण करती हो—मुझ स्वयं आए हुए को देख कर भी औचित्य नहीं पालतीं, इसलिए बारंबार स्मरण कराने पर भी तुम्हारा प्रेमी तुम्हें नहीं पहचानेगा। शकुन्तला के पक्ष में तो यह शाप पूरा उतरा, परंतु क्या दुष्यन्त के पक्ष में भी सत्य सिद्ध हुआ? हाँ, उसे शकुन्तला ने बारंबार याद दिलाया—'चेतो, उठो, देखो मैं वही हूँ—वही वेतसनिकुंज वाली!' कितने अवसाद का स्थल है कि प्रेयसी अपना संकेत-स्थान तक बता देती है, परंतु दुष्यंत का हृदय फिर भी नहीं जागता। दुष्यंत की ओर से आश्रम की व्यवस्था रक्षित कहाँ हुई थी? उसने यद्यपि अपने को राजा नहीं बताया, पर आश्रमों की

रक्षा में नियुक्त राजपुरुष तो बताया ही था। अब वह क्या करे ? दुःखावेग निरन्तर बढ़ता जाता है और उसकी पराकाष्ठा तब होती है जब वह इन्द्रलोक से लौट कर मरीचि के आश्रम में आता है, और वहाँ अपने तनय सर्वदमन को गोद में लेता है। माँ के पहुँचने पर बालक उससे पूछता है—'माँ, भला यह कौन है ?' दुःख की मारी परित्यक्ता पत्नी, समाज की व्यवस्था का उल्लंघन और उसके भयंकर दंड का स्मरण कर पुत्र से कहती है—'ते भागधेयानि पृच्छ !' 'बेटे, अपने भाग्य से, अपने भाग्य-स्रष्टा से पूछ ?' बेटा अपने भाग्य से क्या पूछे ? उसका भाग्य कहाँ है ? किसने उसका सृजन किया ? उसके इस भाग्य का जिसके फलस्वरूप उसका पिता व्यवहारासन से न्याय की कुर्सी से—न्यायालय में चिल्ला कर कहता है—तुम मेरे नहीं हो—उस भाग्य का स्रष्टा कौन है ? शकुन्तला और दुष्यंत का अपावन प्रेम ! वह प्रेम जिसने ऋषिप्रणीत पवित्र अनुशासन की उपेक्षा कर आश्रम की व्यवस्था को भंग किया। 'ते भागधेयानि पृच्छ' ही 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की कुंजी है जिस से इस रहस्य की पेटी के भेद का परदा हटता है। सारे दुःखों को समेट कर शकुन्तला ने इस वाक्य का उच्चारण किया है। कालिदास की कला ने इस व्यंग में अकथनीय मार्मिक चोट भर दी है। एक बार दुष्यंत की सारी शक्ति क्षीण हो गयी, वही शक्ति जो दुर्जय असुरों का अभी-अभी संहार कर विजयी हुई थी। वह अब खड़ा नहीं रह सकता, सोचता है—'क्या मैं वही दुष्यंत हूँ जिसने उत्सुक समाज के समक्ष खुले दरबार में कह दिया था—तू मेरी नहीं है, चली जा ?' वह शकुन्तला के चरणों पर गिर जाता है, और वह उसे उठा कर हृदय से लगा लेती है। दोनों ओर से आँसुओं की धाराएं निकल कर प्रायश्चित्त रूप में उनके पापों के ऊपर बह जाती हैं। इस दंडरूप भट्टी में जल कर जब उनका पाप भस्म हो जाता है, तब पुत्ररूपी राग उत्पन्न होकर उनके हृदयों के घावों को दोनों ओर बैठकर भर देता है।

न की इच्छा मात्र पर प्राण देनेवाली शकुन्तला के चरणों
दुष्यंत गिरे ! कितना बड़ा गौरव है ! पतिरूपी देवता उसके
रणों पर गिरता है, इसका उसे कितना दुःख है ! 'अभिज्ञान-
शाकुन्तल' का अर्थ सिद्ध हो गया। वह पहिचान ली गयी।